सविवरणं

ज्ञानाङ्कुशम्



व्याख्या

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अनन्तश्रीविभूषित

स्वामी महेशानन्दगिरि जी

महाराज आचार्य महामण्डलेश्वर



प्रकाशक

मेहता चैरिटेबल प्रज्ञालय ट्रस्ट

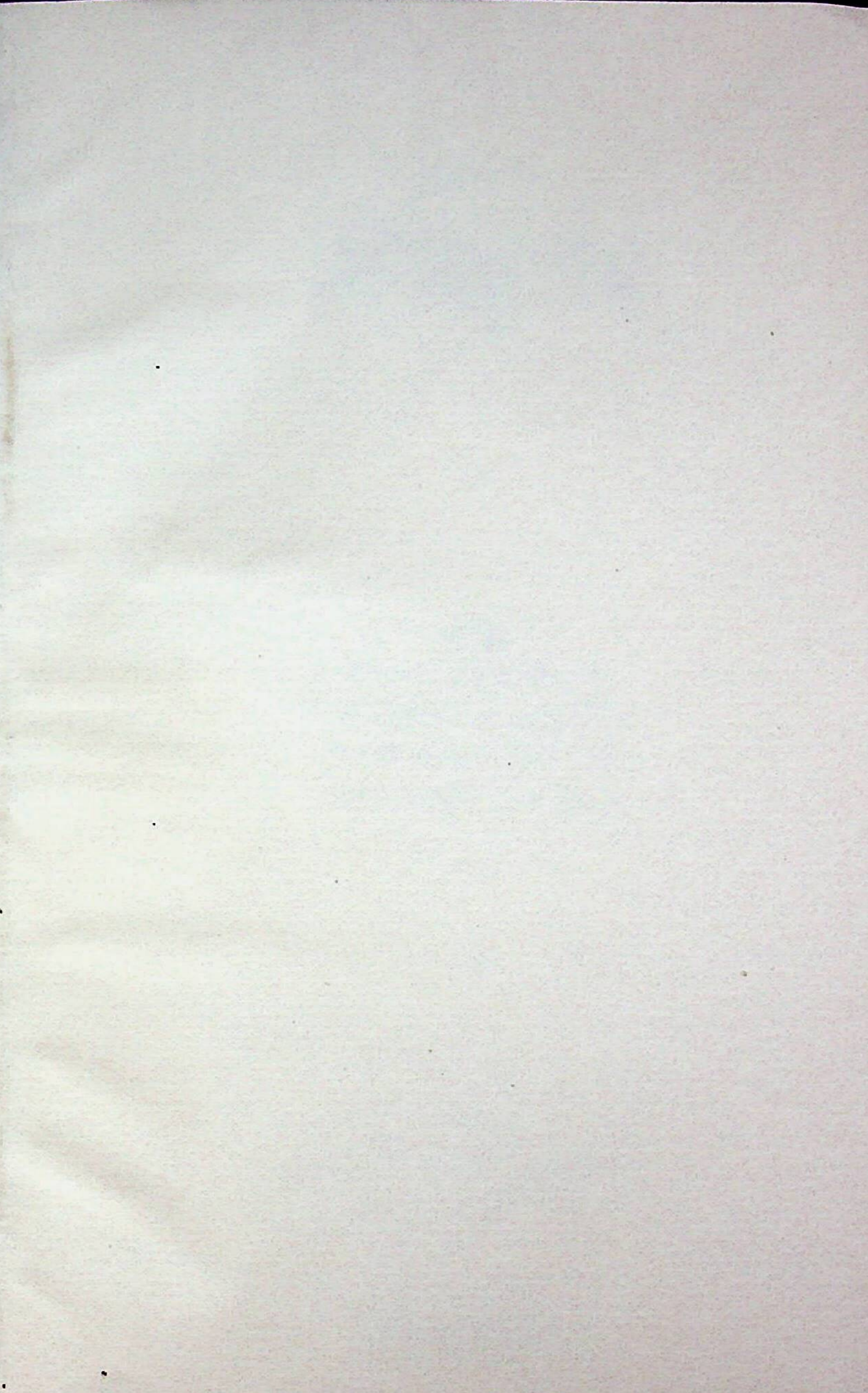
ओयल, हिमाचल प्रदेश

वि. २०६३

खै. २००६

निःशुल्क वितरण हेतु







सविवरणं

ज्ञानाङ्कुशम्



व्याख्या
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य
श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अनन्तश्रीविभूषित
स्वामी महेशानन्दगिरि जी
महाराज आचार्य महामण्डलेश्वर



प्रकाशक
मेहता चैरिटेबल प्रज्ञालय ट्रस्ट
ओयल, हिमाचल प्रदेश

वि. २०६३ खै. २००६

निःशुल्क वितरण हेतु

प्रकाशक
मेहता चैरिटेबल प्रज्ञालय ट्रस्ट
ओयल, हिमाचल प्रदेश



प्रतियाँ : १०००



निःशुल्क वितरण हेतु



मुद्रक
श्रीजी प्रिण्टर्स
नाटी इमली, वाराणसी
फोन : 0542-3257329

ॐ

सविवरणं

ज्ञानाङ्कुशम्

मनुष्यों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—कामप्रधान, क्रोधप्रधान और लोभप्रधान। जो लोग केवल भोगेच्छा से प्रवृत्ति करते हैं उनको कामप्रधान कहते हैं। लोभप्रधान लोग सारा कार्य पदार्थ और धन को एकत्रित करने के लिए करते हैं। थोड़ा-बहुत भोग भी कर लेते हैं परन्तु ज्यादा को एकत्रित करते हैं, बटोरना उनके लिए प्रधान है, भोगना मजबूरी है। कामप्रधान कहते हैं कि ज्यादा से ज्यादा भोग कर लो, उसके लिए जो जरूरी पदार्थ हैं उन्हें लो, परन्तु असली चीज तो भोग है। तीसरे वे हैं जो हमेशा क्रोध की प्रधानता वाले हैं। उनके सारे कार्य क्रोध से ही होते हैं। जब तक वे क्रोध न करें तब तक उनका चित्त शान्त नहीं होता। क्रोध को पूर्ण करने के लिए पदार्थों की, बल की आवश्यकता पड़ती है जिनके लिए उनमें काम और लोभ भी दीखेगा पर प्रधान रूप से क्रोध के लिए ही उनके सभी कार्य होते हैं। भगवान् ने इसी आधार पर नरक की तरफ जानेवाले ये तीन रास्ते बताये हैं। अर्थात् इन तीन के अतिरिक्त और कोई भी नरक की प्राप्ति करानेवाला नहीं है। काम, क्रोध, लोभ से जो किया जाता है वही मनुष्य को नरक के योग्य बनाता है। इन तीनों को जो छोड़ देता है वह कभी नरक में नहीं जाता है। काम को छोड़ने के लिए प्रधान विचार है नित्य और अनित्य का। जो अनित्य है वह नित्य द्वारा की जाने वाली कामना का विषय नहीं होना चाहिए। इसलिए कामना को जीतने के लिए संसार की अनित्यता को बार-बार सोचना जरूरी है। क्रोध कैसे जीता जाय— इसपर इस छोटे-से ग्रन्थ में विचार किया गया है। ग्रन्थ का नाम है *'ज्ञानाङ्कुश'*। स्वयं भाष्यकार ही इसका अर्थ करते हैं—

क्रोधादिमदमत्तस्य मनोहस्तिनो हस्तिन इवोन्मार्गवर्तिनो ज्ञानमयेनाङ्कुशेन वशीकृत्य शास्त्रविहिते सन्मार्गे स्थापयितुकामो लोकस्य ज्ञानमङ्कुशमिव परिकल्पयन्नाह महात्मनामित्यादिना–

महात्मनां सत्त्ववशाद्व्यवस्थितिर्दृढा परिज्ञानसमाहितात्मनाम्।
परापचारेषु तु माद्दृगात्मनस्समानयेत् कल्पनयानयाङ्कुशम्॥१॥

महात्मनां महानक्षुद्रः प्रमाणसंस्कृत आत्मान्तःकरणं येषां ते महात्मानः तेषां महात्मनां, सत्त्ववशात् शुद्धान्तःकरणवशात्, व्यवस्थितिः व्यवस्थानमक्षुभितता दृढा, अचला, परिज्ञानसमाहितात्मनां शास्त्रादिप्रमाणजनितविज्ञानं परिज्ञानं तेन समाहित एकाग्रीकृत आत्मान्तःकरणं येषां ते परिज्ञानसमाहितात्मानः तेषां महात्मनां, क्व व्यवस्थितिर्दृढेत्युच्यते? परापचारेषु परेषां दुर्जनानां चेष्टितानि अपचाराः वधाक्रोशपरिभवादीनि तेषु परापचारेषु। महात्मनां तु सत्त्ववशादेव व्यवस्थितिर्दृढा भवति अतो नास्मदाद्युपदेशमपेक्षन्ते महात्मानः। यः पुनः माद्दृगस्मदादितुल्यः स समानयेद् योजयेत्; कल्पनयानया येयमेतैः श्लोकैः प्रापिता कल्पना समर्थना तया मनोहस्तिनं प्रत्यङ्कुशमिवाङ्कुशं वशीकरणे हेतुत्वात् समानयेत्। मनसः क्रोधादिप्रतिपक्षं भावयेद् इत्यर्थः॥१॥

परिज्ञान द्वारा जिनका मन समाहित हो चुका है उन महात्माओं की तो परायों के दुर्व्यवहार होने पर भी मन की सुस्थिति अंतःकरण की शुद्धता से ही संभव हो जाती है लेकिन हम जैसों के मन–रूप हाथी को इस कल्पना के द्वारा वश में लाना चाहिये।

हाथी जब मदवाला होता है, उस समय वह किसी भी रुकावट को मानने के लिए तैयार नहीं होता, बड़ी से बड़ी बेड़ियों को झटके में तोड़ देता है। यही हालत मनरूपी हाथी की भी होती है। हाथी को अपने शरीर के स्राव–विशेष से ऐसी मत्तता प्राप्त होती है और मन को क्रोध से ऐसी मत्तता प्राप्त हो जाती है। जैसे हाथी, जब तक

मदमस्त नहीं होता तब तक नियन्त्रण नहीं खोता, परन्तु जैसे ही मदमस्त हो जाता है, किसी के भी नियंत्रण में नहीं रहता; इसी प्रकार जब तक क्रोध का मद इसको पागल नहीं बना देता तब तक यह मन कई अच्छे काम कर लेता है लेकिन जब क्रोध का मद चढ़ जाता है तब किसी के नियंत्रण को नहीं मानता। जैसे मदमस्त हाथी उन्मार्गवर्ती होता है, जिस मार्गपर चलना ठीक है, उसी को छोड़कर उल्टे मार्ग पर जाता है, इसी प्रकार यह मन भी उन्मार्ग में प्रवृत्ति करता है, जिस धर्म का हमारे लिये शास्त्र ने प्रतिपादन किया उसे नहीं मानता। जो लक्ष्य की तरफ ले जाता है उसे मार्ग कहते हैं। 'जहाँ भी ले चले' ऐसा मार्ग का अर्थ नहीं है। मार्ग उसी को कहते हैं जो लक्ष्य पर पहुँचाये। लोग जब पूछते हैं कि बम्बई का रास्ता किधर है तो वे बम्बई पहुँचने का रास्ता पूछते हैं। उन्हें कोई कलकत्ते का रास्ता दिखा दे तो वह रास्ता भले ही है, परन्तु बम्बई जाने का रास्ता नहीं है। कुछ दूर चलने के बाद पता लगेगा कि यह कलकत्ते का रास्ता है तो वह समझेगा कि 'मुझे उल्टे रास्ते में डाल दिया'। उन्मार्ग वह है जो हमें अपने लक्ष्य से विपरीत दिशा में ले जाये। इसी प्रकार मन भी उन्मार्गवर्ती हो जाता है। क्रोध में वह किसी को कुछ भी कह देता है। जब क्रोध शान्त हो जाता है तब सोचता है कि 'अरे! मैंने उसे ऐसा कह दिया, नहीं कहना चाहिए था'। ऐसा जो उन्मार्गवर्ती मन, उसको कैसे वश में किया जाये? मदमत्त हाथी को अंकुश से वश में किया जाता है। हाथी का महावत एक अंकुश रखता है और जहाँ हाथी का मदस्थल है वहीं उसको चुभाता है, जोर से मारता है। उससे मद बाहर निकलने लगता है। वह मद भौंरों को बड़ा प्रिय है; अत: जब मद निकलता है तब भौंरे उसके चारों ओर मँडराने लगते हैं। जब वह मद निकल जाता है तब हाथी का उन्माद भी समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार मन के अन्दर आया हुआ जो क्रोध-रूपी मद है, इसको जिसके द्वारा निकाला जा सके, कम किया जा सके वह ज्ञानरूप अंकुश है। बिना ज्ञान के केवल हठ से दबाकर क्रोध को कभी कम नहीं किया जा सकता, वह

तो तभी ठीक होगा जब ज्ञान-रूपी अंकुश उस पर मारा जाय। इस प्रकरण में मुख्य रूप से क्रोध पर ही विचार किया गया है। पर यह भी बताया गया है कि ज्ञानरूपी अंकुश काम और लोभ को भी समाप्त करता है। अत: व्याख्या में कहा 'क्रोधादिमदमत्तस्य'। क्रोध में 'आदि' शब्द लगाकर कहा कि यहाँ जो नियम बता रहे हैं, उससे क्रोध के साथ काम और लोभ को भी कम या समाप्त किया जा सकता है। उस ज्ञान के द्वारा जो मनोहस्ती है वह वश में हो जाता है। क्रोध की दशा में हमारे अधीन मन नहीं रह जाता, क्रोध के अधीन हो जाता है। परन्तु जब ज्ञान का अंकुश लगाया जाता है तब वह हमारे वश में हो जाता है। जब वश में हो गया तब उन्मार्गी न होकर वह सन्मार्ग में स्थापित हो जाता है।

सन्मार्ग—वस्तुत: सत् का अर्थ है परमात्मा। सत् चित् आनन्द यही परमात्मा का स्वरूप है। जो हमें परमात्मा की प्राप्ति कराने का साधन होता है वही सन्मार्ग होता है। इसलिए आचार्यों ने कहा है कि काम्य कर्म भी हमारे अन्दर कुछ न कुछ शुद्धि लाते हैं। कामना की पूर्ति के लिए हम अशास्त्रीय और शास्त्रीय दोनों ही मार्ग अपना सकते हैं। अशास्त्रीय मार्ग को अपनाने पर हमारे में किंचित् भी शुद्धि नहीं आयेगी। पर यदि हम उसी कामना की पूर्ति के लिए शास्त्रानुकूल कर्म करते हैं तो हमारी कामना कुछ शान्त होती है। अशास्त्रीय कार्यों को छोड़ने मात्र से हम कुछ न कुछ परमात्मा की तरफ जा सकते हैं। सन्मार्ग अर्थात् शास्त्रोक्त मार्ग। लोक में भी अनजान रास्ते को हम खुद नहीं समझ सकते वरन् किसी जानकार से पूछना ही पड़ता है। हम केवल अपनी बुद्धि से सोचें तो पता नहीं लगता कि सही मार्ग पर हैं या नहीं। हम समझते हैं कि इस मार्ग से अवश्य पहुँच जायेंगे पर वह सही मार्ग होता नहीं। सन्मार्ग वह है जो शास्त्र कहे। पर मूढबुद्धि वे होते हैं जो अपनी बुद्धि से सोचकर, जो उन्हें ठीक लगता है, उसे मार्ग मानने लगते हैं। शास्त्र के वचनों को नहीं मानते, उल्टे शास्त्र पर ही दोष लगाते हैं!

इसका ज्वलन्त उदाहरण है वर्ण–व्यवस्था और आश्रम–व्यवस्था: आज सभी एकस्वर में कहते हैं कि 'वर्णाश्रम व्यवस्था अब काम की नहीं रही। यह भेदभाव पर आधारित है, इसे कैसे ठीक माना जा सकता है?□ इसलिए जो लोग हिन्दू धर्म की बात करते हैं वे भी वर्णाश्रम धर्म का सर्वथा विरोध करते हैं। कुछ लोग सीधा नहीं तो इस ढंग से विरोध करते हैं कि वर्णाश्रम व्यवस्था मनुष्य के गुण– कर्म से निर्धारित होनी चाहिए। अगर गुण–कर्म से निर्धारण होने लगेगा तो दिन में दस बार एक पुरुष का वर्ण बदलेगा! नहाने से पहले सफाई की तो शूद्र हो गये, क्रय–विक्रय करने बाजार चले गये तो वैश्य हो गये, बच्चों को पढ़ाने बैठे तो ब्राह्मण हो गये, रात में चोर आये उन्हें मारने दौड़े तो क्षत्रिय हो गये; दिन में कितनी बार वर्ण बदले! जो लोग गुण–कर्म की बात करते हैं वे कभी यह नहीं बता सकते कि किसको ब्राह्मण कहा जाय, या कितने घंटे के लिए उसको ब्राह्मण कहा जाय। वर्णाश्रम व्यवस्था के ऊपर इतनी आपत्ति इसीलिए है कि शास्त्र को छोड़कर कल्पना कर रहे हैं। ब्राह्मण किन गुणों को अपने में लाये, किन कर्मों को करे– यह तो शास्त्र ने विधान किया ही है पर उल्टे हम ही निर्णय करने लगें कि ब्राह्मण क्या–क्या करे तो व्यवस्था रह नहीं सकती। शास्त्र कहते हैं कि किस वर्ष में, किस ऋतु में ब्राह्मण का उपनयन हो, फिर वह वेद पढ़े। अत: पहले पता हो कि ब्राह्मण है तब निर्णय होगा कि कब संस्कार किया जाये। हम कहते हैं कि सभी मनुष्य समान हैं तो यह भिन्नता क्यों? पर यह भेद शास्त्रदृष्टि से समझ आयेगा, उसके बिना केवल अपनी बुद्धि से नहीं। इसलिए केवल 'सन्मार्ग' न कहकर स्पष्ट किया कि 'शास्त्रविहिते', शास्त्र में कही हुई पद्धति पर स्थित होना चाहिए। ज्ञान की अंकुश रूप में परिकल्पना करते हुए इस प्रकरण में श्लोकों द्वारा साधकों को क्रोधादि पर नियंत्रण प्राप्त करने के उपाय बताये जा रहे हैं।

जो महात्मा हैं, उनमें स्वभाव से ही सत्त्व गुण निहित होता है। इसलिए उनकी स्थिति दृढ रहती है अर्थात् वे अव्यवस्थित नहीं होते।

जो सत्त्वप्रधान नहीं होते वे अव्यवस्थित होते हैं। और शास्त्रकारों ने कहा है– 'अव्यवस्थिचित्तानां प्रसादोऽपि भयङ्कर:' कि जिनका चित्त व्यवस्थित नहीं होता उनकी प्रसन्नता से भी डर लगता है। एक क्षण में शान्त हैं, अगले क्षण गुस्सा करने लगे, अचानक प्रेम करने लगे, क्षणभर में ही गाली-गलौज करने लगे– ये अव्यवस्थित चित्त के लक्षण हैं। अव्यवस्थित चित्तवालों को देखना है तो चुनाव के समय नेताओं को देखना चाहिए– एक गाँव में एक बात कहेंगे, दूसरे गाँव में जाकर दूसरी बात कहेंगे। चुनाव के समय कहेंगे 'हम यह-यह करेंगे' पर जब मंत्री बन जायेंगे तब कहेंगे 'यह तो हो नहीं सकता'। जो अव्यवस्थित चित्तवाले होते हैं वे कभी तुम्हारे ऊपर प्रसन्न भी हों तो सावधान ही रहना चाहिए। सत्त्वगुणप्रधान-व्यवस्थित चित्तवाले होते हैं। उनकी स्थिति दृढ होती है। वे महात्मा होते हैं। महात्मा का लक्षण कर दिया–'परिज्ञानसमाहितात्मनाम्'। परिज्ञान अर्थात् जो भली प्रकार से विचार करके ज्ञान होता है; जिसका उसके अन्दर चित्त समाहित होता है वह महात्मा है। महात्मा तो स्वभाव से ही ऐसे होते हैं, उनके लिए इस ज्ञानाङ्कुश की आवश्यकता नहीं होती है। जैसे जब हाथी मदमस्त नहीं होता तब उसको अंकुश से नहीं मारते, इसी प्रकार सत्त्वप्रधान बुद्धि वाले भी दृढ रहने से हर परिस्थिति में एकसमान रहते हैं। दूसरा जब उनसे गलत ढंग से व्यवहार करता है, तब भी उनकी व्यवस्थित बुद्धि हटती नहीं है। अत: उनके लिए अंकुश की जरूरत नहीं है क्योंकि बिना अंकुश के ही वे सदाचारी हैं।

तब यह पुस्तक किसके लिए है? मेरे जैसे जो साधारण व्यक्ति हैं, मूढ हैं, उनके लिए यह ग्रंथ है जो वह तरीका बताता है जिससे वे महात्मा बनें।

प्रमाण के द्वारा जिनका मन संस्कृत हो गया है, संस्कारवाला हो गया है वे महात्मा होते हैं। प्रमाण का अर्थ है जो हमें यथार्थ ज्ञान दे। चीज जैसी है उसको जो वैसी ही बताये उसे प्रमाण कहते हैं।

जैसे सामने सफेद कागज है और आँख सफेद कागज ही दिखाती है तो आँख प्रमाण है। यदि सफेद को नीला दिखा दे तो वह प्रमाण नहीं होगी। मोतियाबिन्द हो जाये, तो सामने से दो व्यक्ति आ रहे हों तो लगेगा कि चार आ रहे हैं, इस स्थिति में आँख प्रमाण नहीं होती। शास्त्र को इसीलिए प्रमाण कहा गया है कि वेद हमें यथार्थ ज्ञान ही देता है। प्राय: लोग पूछते हैं कि वेद को ही क्यों प्रमाण माना जाय? यह वैसा ही है जैसे कोई कहे कि कान से भी पता कर लेना चाहिए कि यह सफेद है कि काला है, सिर्फ आँख को ही क्यों मानें? ठीक इसी प्रकार से लोग कहते हैं कि कुरान मे एक बात लिखी, बाईबिल में दूसरी बात लिखी तो मात्र वेद को ही क्यों माना जाय? वेद ने कहा है कि मांस नहीं खाना चाहिए। कुरान, बाइबिल में लिखा है कि मांस तो हमारे खाने के लिए ही बना है, तो वह बात भी ठीक होनी चाहिए, वह भी धर्म है। उन ग्रंथों की बात क्यों न मानें? क्या उनका दिया गया ज्ञान यथार्थ नहीं है? इन प्रश्नों का यही उत्तर है कि धर्म दूसरे प्रमाणों से जाना जाय ऐसी बात नहीं है। यथार्थ ज्ञान देने वाला वेद ही है। अत: तद्विरोधी बाकि सब ग्रंथ धर्म का नहीं, अधर्म का ज्ञान देते हैं। धर्म तो हमेशा सत्य होता है परन्तु जहाँ धर्म को अधर्म समझा जाय वहाँ भ्रम है। अत: धर्म का पता हमें किसी दूसरे प्रमाण से लग नहीं सकता। जैसे लोक-व्यवहार में कहीं भी यह नहीं माना जाता कि दोषयुक्त साधन से हुआ ज्ञान ठीक है वैसे ही यहाँ समझना चाहिए। अभी हमारा मन प्रमाण के संस्कारों से संस्कृत नहीं है अत: जिन बातों को शास्त्र जैसा बताते हैं उन्हें वैसे ही नहीं समझ पाता। जब हम किसी विषय की पृष्ठभूमि नहीं जानते तब हमें वह समझ में नहीं आता। जैसे अब दो दक्षिणी बात कर रहे हों तब हम कहते हैं कि ऐसा लग रहा है कि मटके में कंकड़ डालकर बजाया जा रहा है! क्या यह उस भाषा का दोष है? नहीं। हमें उस भाषा के शब्द और व्याकरण का ज्ञान न होने से हम उसको समझ नहीं पा रहे हैं।

एक बार एक गाँव में एक बहुत अच्छा गायक आया। गाँव के लोग संगीत शास्त्र के जानकार तो थे नहीं। उसने गाना शुरू किया, पहले आलाप लिया; एक वृद्ध श्रोता ने कहा 'यह तो रेऽ ऽ रे ऽ ऽ कर रहा है; हमारा घोड़ा भी पहले ऐसे करता था, इसकी दवा है हमारे पास'। जो स्वरों को ही नहीं जानेगा, उसे संगीत ऐसा ही लगेगा। इसी प्रकार शास्त्र प्रमाण के संस्कारों से जब तक हमारा मन संस्कृत नहीं हो जाता तब तक हम महात्मा नहीं बन सकते।

'महानक्षुद्रः', क्षुद्र चीज वह होती है जो मिलकर हमारे पास रह नहीं सकती, समाप्त हो जाती है, थोड़ी-सी होती है अत: कोई सुख नहीं दे पाती। भूख है चार दिन की और आधा रसगुल्ला मिल जाये तो खाकर भी कोई शान्ति नहीं मिलती। यदि हमें पन्द्रह रोटियाँ दे दी जायें तभी शान्ति का अनुभव होगा। संसार-भर के पदार्थों का विचार करें तो समझ आता है कि उनसे क्षण-भर के लिए ही लगता है कि सुख मिला, फिर दो घड़ी बाद ही 'हमारे पास और क्या-क्या नहीं है' यह कमी का बोध हौवा बनकर सामने आ जाता है। अत: सांसारिक वस्तुएँ शान्ति को प्राप्त नहीं कराती, बल्कि ज्यादा अशान्त कर देती हैं। सारे अनात्म पदार्थ क्षुद्र हैं, केवल एकमात्र आत्मपदार्थ ही क्षुद्र नहीं है इसलिए वही महान् है। जिसका अन्त:करण उस परमात्मभाव के संस्कारों से संस्कृत है, शास्त्र के संस्कारों से संस्कृत है वह है महात्मा। 'प्रमाणसंस्कृत:' इसलिए कहना जरूरी है क्योंकि कई बार कोई चीज जब दु:ख देती है तब वहाँ से मन हटता है परन्तु वास्तव में सब तरह के भोगों से हटता नहीं है क्योंकि प्रमाण के संस्कार से नहीं, पदार्थ की अनित्यता के कारण नहीं हटा। भोजन करने बैठे, करेले का साग देखा तो वृत्ति बनती है 'आज मुझे भूख नहीं है, मैं रोटी नहीं खाऊँगा'। तब तक किसी ने आलू छौंक दिया, लाकर पूछा 'यह तो खायेंगे?' तुरन्त जवाब देता है 'हाँ, यह खायेंगे।' रोटी से मन हटा था करेले का साग देखकर, सचमुच तो रोटी से मन हटा नहीं था।

अतः जब आलू का साग आ गया तब रोटी ठीक लगने लगी। इसी प्रकार कोई बेटा पढ़ता लिखता है नहीं, दिन-रात ऊधम मचाता है तो कहते हैं 'अरे यह लड़का बेकार हो गया है'। वही बेटा अगले दिन से रोज आकर पढ़ता है, पैर भी दबाता है, खेलने में भी अव्वल आता है तो उसी पुत्र से प्रेम हो जाता है। पुत्र से वैराग्य नहीं हुआ था, पुत्र की अमुक अयोग्यता से वैराग्य हुआ था। ठीक इसी प्रकार संसार के पदार्थों से हटकर यदि प्रमाणसंस्कृत मन से परमात्मा की तरफ नहीं जाते, केवल उनसे होने वाले क्षणिक दुःखों को देखकर जाते हैं, तो जैसे ही कालान्तर में वह क्षणिक दुःख की स्थिति नहीं रहती तब तुरन्त ही सारा राग फिर सिर पर आ जाता है। परन्तु जब प्रमाणसंस्कृत ज्ञान द्वारा राग हटा तब चूँकि यथार्थ ज्ञान से अज्ञान हटा अतः कैसा भी रूप आ जाये, उसकी यथार्थता को जानेगा ही। कई बार साधकों में ऐसा देखने में आता है कि किसी काल में बड़े वैराग्य वाले होते हैं और कभी रागयुक्त हो जाते हैं। आजादी की लड़ाई में यही देखा गया। पिता ने बहुत बड़ा 'आनन्द भवन' बनाया था पर कहा 'मुझे नहीं चाहिए। मैं सामान्य मकान में रहूँगा'। पर जब स्वातंत्र्य मिल गया तब पुत्र ने कहा 'मुझे तो 'तीनमूर्ति भवन' ही चाहिए'। पहले वैराग्य था, अब राग आ गया। क्यों? पहले स्वातंत्र्य प्राप्ति के लिए निष्ठा थी, वही कारण था वैराग्य का, अब स्वातंत्र्य को 'प्राप्त' मान लिया अतः उसे पाने के लिए कोई साधना न रह जाने से वैराग्य भी समाप्त हो गया। इस प्रकार के वैराग्य को महात्मा का वैराग्य नहीं माना जाता है। महात्मा का अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध होता है, सात्त्विक होने से उनका विज्ञान अर्थात् अनुभव यथार्थ होता है।

योगमार्ग में प्रमाण से अन्तःकरण संस्कृत नहीं होता बल्कि ध्यानरूपी क्रिया के संस्कारवाला होता है। इसलिए योग के आचार्यों ने स्पष्ट किया है कि समाधि काल में साधक अपनी वास्तविक स्थिति में रहता है परन्तु जब समाधि का काल हट जाता है तब उस भाव

में न रहकर द्वैत भाव में आ जाता है। बड़े-बड़े तपस्वियों मुनियों को महान् क्रोध की अवस्था में देखा जाता है पर यह क्रोध स्थिर नहीं होता, चला जाता है। क्योंकि जैसे ही उनका वेग कम होकर समाहित अवस्था आती है, वे तुरन्त अपने समाहित रूप को देखते हैं अत: उनके लिए वह वेग स्थिर नहीं रहता है। क्रोध आता है अत: उनको *सर्वथा* स्थिर नहीं कहते, फिर भी औरों की अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ हैं। प्रमाणजनित संस्कार स्थिर होता है। अयथार्थ चीज को देखने पर भी प्रमाणज संस्कार वाले जानते हैं कि उसका आधार क्या है। अयथार्थ रूप को देखकर उनको कभी भ्रम नहीं होता है इसलिए वे हमेशा ही व्यवस्थित रहते हैं। अत: किसी भी परिस्थिति में उनको क्षोभ नहीं होता। क्षोभ होने पर ही आगे क्रोध आ सकता है। किसी चीज को जब हम सह न सकें तब क्रोध आता है। जब अन्त:करण शुद्ध अवस्था में रहता है तब उसको दृढ कहते हैं, वह स्वरूप पर एकाग्रता से विचलित नहीं होता।

जिनकी चित्तवृत्ति सात्त्विक होने से दूसरों के अपराध से विक्षेप को प्राप्त नहीं करती उन्हें कुछ कहने की जरूरत नहीं है। वेद ने कहा है 'तरति शोकम् आत्मवित्' आत्मज्ञान की दृढता जिसमें है उसको शोक कभी नहीं होता। परन्तु हमें भी वैसी ही स्थिति प्राप्त हो इसके लिए जो करना है वह बता रहे हैं। अनुभवरूप ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। जिनको शास्त्र के तात्पर्य का साक्षात्कार हुआ है, अनुभव हुआ है वे ही सम्यक् महात्मा हैं। केवल शास्त्र न कहकर 'आदि' कहा ताकि मनन-निदिध्यासन भी आवश्यक साधन हैं यह स्पष्ट हो जाये। प्रमाण से जन्य ज्ञान, मनन निदिध्यासन के अभाव में प्रतिबद्ध रह जाता है। जब तक युक्तिपूर्वक 'वह ठीक ही है' ऐसा निश्चय नहीं हो जाता तब तक प्राप्त ज्ञान भी प्रतिबद्ध रहता है। शास्त्र ने तत्त्व के बारे में कहा है, अन्य आनुमानिकों ने भी कहा है, स्वयं अपना प्रत्यक्षादि अनुभव भी तत्त्वविषयक मत बनाता है। अत: प्रश्न होता है कि कौन-सा

ज्ञान शोक-निवर्तक हो सकता है? अन्य ज्ञानों से शोक निवृत्त नहीं हो सकता, शास्त्र के द्वारा जो बात कही गयी है उसी के ज्ञान से शोक निवृत्त हो सकता है—यह मनन से निश्चित हो जाता है। अपना जो प्रत्यक्षादि अनुभव है वह भी शोक-निवर्तक नहीं हो सकता। इस बात का दृढ-निश्चय कर लेना चाहिए। शास्त्रादिजनित जो विज्ञान है वही युक्ति से उपोद्बलित होने पर परिज्ञान है।

निश्चय होने के बाद जिसके अन्दर किसी प्रकार का संशय नहीं रह गया है, परन्तु दीर्घकाल तक उसने अपने मन को उस तत्त्व में एकाग्र नहीं किया है, वह भी अकस्मात् अविचार से जब प्रवृत्त होता है तब किसी दूसरी चीज को शोक-निवर्तक मान लेता है। जैसे, निश्चय है कि शोकनिवृत्ति दाल-बाटी-चूरमा खाकर नहीं हो सकती पर चार दिन से भूखे हैं, कहीं भीख भी नहीं मिली है, अकस्मात् कोई कहता है 'आओ स्वामीजी! दाल-बाटी-चूरमा खा लो'। उस समय यही वृत्ति बनती है कि 'खा ही लेना चाहिए, खा लेने से भूख का शोक मिट जायेगा'। वास्तव में होगी खाने से सिर्फ तात्कालिक भूख-निवृत्ति, शोक तो यथावत् रहेगा। परन्तु दीर्घकाल के लिए 'सिवाय शिव के और कोई शोक-निवर्तक नहीं है'— यह दृढता होने पर ऐसी कठिन परिस्थिति में भी ऐसा नहीं लगता कि भोजन से *शोक* निवृत्त हो जायेगा। यह निष्ठा जरूरी क्यों है? एक महात्मा भिक्षा लेने गये। एक औरत ने कहा, 'अरे मुस्टण्डे! माँग कर खाता है, शरम नहीं आती, काम क्यों नहीं करता?' महात्मा आगे चल दिये। आगे गये तो उसी स्त्री ने कहा 'अच्छा, आओ खा लो'। वापस आ गये महात्मा। फिर उसने कहा 'कितना बेशरम है! इतना कुछ कहा फिर भी आ गया। जा भाग यहाँ से।' महात्मा फिर चले गये। उस औरत ने बड़े आदर से उनको फिर बुलाया और कहा, 'दो बार तो मैंने ऐसे ही कहा। आप सिद्ध महात्मा हैं'। महात्माजी ने कहा 'मुझ में तुमने क्या सिद्धि देखी? यह सिद्धि तो कुत्ते में सर्वदा ही विद्यमान है! कुत्ते को तू-तू करके बुलाओ तो आ जायेगा, पुनः

झिड़क दो तो चला भी जायेगा। यह क्या सिद्धि है!' व्यावहारिक व्यवस्था को यों तुच्छ न मानते तो उस महिला पर अवश्य क्रुद्ध होते परन्तु चूँकि उनका अन्तःकरण हमेशा वास्तविक तत्त्व के अन्दर एकाग्र था अतः व्यवहार से विक्षिप्त नहीं हुआ। चित्त के अन्दर निरन्तर यह संस्कार दृढ करना पड़ता है कि संसार का कोई पदार्थ दुःख को हटा सकता नहीं। चित्त के अन्दर रजोगुण और तमोगुण के अंश अतिक्षीण होने से जब अपना प्रभाव दिखा नहीं सकते तभी यह स्थिति आती है।

जो महात्मा हैं उनकी व्यवस्थिति कहाँ दृढ होती है? पर अर्थात् दूसरे; जो परमात्मा की साधना में लगे हुए हैं वे पहले, तथा इसके विपरीत जो अनात्मा की साधना में लगे हुए हैं वे पर। चार प्रयोजनों से मनुष्य प्रयुक्त होता है—एक है कामनाओं की पूर्ति। दूसरा है उन कामनाओं की पूर्ति के लिए साधनों की प्राप्ति कि ऐसा अर्थ होवे जिससे जब हम चाहें तब कामना की पूर्ति हो जाए। मृत्यु निश्चित है। सौ साल, हजार साल, साठ हजार साल भी कोई जी जाये, पर मरना तो निश्चित है। अर्थ और काम इस लोक में प्रयोजन हैं पर यहाँ से मरकर जब परलोक जायेंगे तब कौन-से अर्थ काम कार्य में आयेंगे! जैसे आदमी यहाँ खूब रुपये इकट्ठे करता है पर उसे अमरीका जाना हो तो इन रुपयों के बदले अमरीकन डॉलर लेता है क्योंकि अमरीका में भारतीय रुपये तो काम आयेंगे नहीं। इसी प्रकार इस लोक में अर्थ को विनियुक्त कर धर्म एकत्र करें तो वही स्वर्गादि लोकों में फल देगा। इस प्रकार अर्थ को धर्म में बदलने का प्रयत्न करना चाहिए। हमारे पास दस किलो घी है। हमने दस किलो घी की आहुतियाँ दी। वे आहुतियाँ हमें मरने के बाद स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति करायेंगी। धर्म चाहे यज्ञरूप हो, दानरूप हो, तपरूप हो, सभी परलोक में सफल होता है। एकादशी का दिन है। घर में आटा, दाल, चावल, घी सब पड़ा है, कोई कमी नहीं है। खाने की इच्छा तो होती है पर हम उस काम

का नियंत्रण करते हैं, उस भोग को छोड़ते हैं, यही तप है। उस तप के फलस्वरूप, यहाँ जो कामत्याग किया उसके बदले हमें स्वर्ग में सोमरस पीने को मिलेगा। इसी प्रकार धर्म, अर्थ, काम ये तीनों अनात्म-पदार्थों की प्राप्ति के लिए हैं। जब व्यक्ति इन तीनों चीज़ों को नहीं चाहता अर्थात् अनात्म-पदार्थों को नहीं चाहता तब वह आत्म-पदार्थ को चाहता है।

इसलिए महात्माओं की दृष्टि से धर्म, अर्थ और काम के मार्ग में चलनेवाले हो गये 'पर' और मोक्ष मार्ग में चलने वाले हो गये 'स्व'। हमारे संबन्धी कौन हुए? जो मोक्ष मार्ग में चलते हैं। मोक्षमार्ग में चलनेवाले तो महात्माओं के साथ अपचार, दुर्व्यवहार कर नहीं सकते। कौन करेंगे? जो अनात्मनिष्ठ कार्यों मे लगे हैं वे ही करेंगे। वे दुर्जन बार-बार जन्म-मरण के चक्र के दुःख को सहेंगे ही। सांसारिक लोगों की दृष्टि में वे सज्जन भी हो सकते हैं, परन्तु सद् ब्रह्म की प्राप्ति के लिए तो प्रवृत्ति कर नहीं रहे हैं, वही प्रवृत्तियाँ कर रहे हैं जिन से बार-बार गर्भ में आना पड़े, अतः ब्रह्मवेत्ताओं की दृष्टि में वे असज्जन ही हैं। काम की तरफ लगा हुआ व्यक्ति इसलिए अपचार करता है कि उसे लगता है कि 'ये महात्मा हमारे काम को छीन न लें'। अर्थ में लगा हुआ इसलिए अपचार, दुर्व्यवहार करता है कि उसके धन को कोई छीन न ले। धार्मिक व्यक्ति कैसे किसी का अपचार करेंगे—वे सोचते हैं कि स्वर्गादि से अतिरिक्त और कोई प्राप्त होने लायक है नहीं। महात्मा स्वर्गादि से भिन्न मोक्ष को ही परमपुरुषार्थ मानता है। धार्मिक लोग महात्माओं के इस सिद्धान्त का और मोक्ष के साधन संन्यासादि का विरोध करते हैं, यह उनका अपचार है। इसलिए जितने भी धर्मप्रधान, कर्मकाण्डप्रधान, उपासनाप्रधान होते हैं वे सब आत्मा की तरफ जाने वाले का अपचार ही करते हैं। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ—सभी कर्म करेंगे। सब कर्मों के लिए चोटी-जनेऊ की जरूरत है। पर जो मोक्षमार्ग में चलेगा वह चोटी-जनेऊ का त्याग कर देता है तो वह कोई

कर्म कर नहीं सकता। सृष्टि के प्रारम्भ से ही आत्मा के मार्ग पर चलनेवालों का जैसे अर्थप्रधान तथा कामप्रधान से विरोध होता है, वैसे ही धर्मप्रधान से भी विरोध होता है। शास्त्रार्थ करके वे क्या सिद्ध करेंगे?—अनात्मा को सर्वथा छोड़कर आत्मा हो नहीं सकता।—घूम फिरकर उनका कहना यही है। बुद्धिमान् बुद्धिप्रयोग से तो स्थूल बल वाले बलप्रयोग से महात्माओं का घोर विरोध करते हैं। एक सिद्ध महात्मा सर्वदा अवधूत वृत्ति से नग्न रहते थे। एक बार वे अपनी मस्ती में चले जा रहे थे। श्रीरंगपट्टनम् के पास टीपू की फौज पड़ी हुई थी। वे उधर से निकल गये। उनको कुछ पता नहीं कि किसकी फौज पड़ी है। टीपू ने देखा कि खेमे में से नंगा बेधड़क जा रहा है तो गुस्सा होकर कहा– 'मारो इसको'। उन लोगों ने तलवार मारी। उनका हाथ कटकर गिर गया। वे चले जा रहे थे, उनको कुछ नहीं पता चला। आगे जाने पर कुछ लोगों ने उनको देखा तो कहा कि 'आपके हाथ से खून बह रहा है, जब ध्यान दिलाया गया तब देखा; सिद्ध पुरुष थे ही, देखते ही फिर से हाथ यथावत् हो गया। दुराचारी लोग महात्माओं के वध में प्रवृत्त होते हैं; गाली देते हैं, तरह-तरह से दु:खी करने का प्रयत्न करते हैं। परिभव करते हैं अर्थात् बार-बार उनको अपने मार्ग से दूसरे मार्ग में, पुन: अनात्ममार्ग में लाने का प्रयत्न करते हैं।

आजकल यह प्रयत्न इस ढंग से भी होता है कि 'केवल अपने उद्धार से क्या होगा! सबके उद्धार का कार्य करना चाहिए।' किन्तु विचार करना चाहिए : किस उद्धार की बात करते हैं? संसार में कोई किसी को *अनुभव* दे नहीं सकता। उसके लिए तो स्वयं ही प्रयास करना पड़ेगा। दाल का सीरा बनाकर हमारे सामने लाकर रखा तो जा सकता है, पर उसका स्वाद जानने के लिए खाना हमें ही पड़ेगा। इसी प्रकार आत्मज्ञान युक्ति इत्यादि से पुष्ट करके हमारे सामने परोसा जा सकता है, परन्तु वैराग्य आदि साधनपूर्वक उसे ग्रहण तो हमें ही करना पड़ेगा। बच्चों के साथ ऐसा ही होता है कि माँ तरह-तरह से खाने के लिए

प्रवृत्त करती है। जैसे ही खाना लाती है, बच्चा कहता है 'मुझे तो बाहर ले चलो, घुमाने ले चलो, मुझे गेंद दे दो'। उस बच्चे को कैसे खिलाया जाए? माँ ने तो कोशिश की बढ़िया चीज़ खिलाने की परन्तु जब तक घूमने का, गेंद का आकर्षण, न छोड़े, तब तक खाना पेट में कैसे जाये! इसी प्रकार युक्ति से, शास्त्र से, सब तरह से पुष्ट करके हमारे सामने वेद रखे गये किन्तु हम कहते हैं कि अभी लड़की की शादी करनी है! जब तक वैराग्य हमारे मन में नहीं होगा, तब तक परोसा हुआ भी ज्ञान हम ग्रहण कर नहीं सकेंगे। जब कहते हैं कि सब लोगों के कल्याण के लिए प्रयत्न करना चाहिए तब उनका तात्पर्य कभी भी आत्मज्ञान को प्राप्त कराने के प्रयत्न से नहीं होता। अनात्म पदार्थों की प्राप्ति तो वही करा सकता है जो स्वयं अनात्म पदार्थोंवाला हो। जो अनात्मपदार्थों का त्याग करता है वह अनात्म पदार्थों वाला होगा नहीं। जिस लोगों की मदद की बात लोग करते हैं वह अनात्मपदार्थ-संबंधी है। यह भी परिभव करना है कि 'अपना उद्धार करके क्या होगा, सबका कल्याण करना चाहिए'।

इस प्रकार वध, आक्रोश, परिभव आदि से लोग अपचार करते हैं। जो अनात्मपदार्थों की तरफ जानेवाले धार्मिक, आर्थिक और कामुक लोग हैं उनकी उन चेष्टाओं से भी महात्मा विक्षिप्त नहीं होते। महात्माओं के अन्तःकरण के अन्दर सत्त्वगुण प्रधान होनेसे ज्ञान हमेशा चमकता रहता है, वे अपने ही स्वरूप में दृढ रहते हैं। रजोगुणी और तमोगुणी व्यक्तिओं में वह वृत्ति आ नहीं सकती। लोग पूछते हैं कि जनकल्याण करने में हर्ज़ क्या है? हर्ज़ कुछ नहीं है पर एक हरिण के बच्चे को ठीक रखने के लिए भरत को तीन जन्म लेने पड़े तो सारी दुनियाँ के चक्कर में पड़ने पर क्या हालत होगी! अतः महात्मा ऐसी बातों से उत्तेजित होकर बहिर्मुख नहीं होते, उनकी व्यवस्थिति दृढ बनी रहती है, उन्हें कोई हिला नहीं सकता। ऐसे सत्त्वगुणवालों को ज्ञानरूप अंकुश का प्रयोग करना सीखने की आवश्यकता है नहीं। अतः इस शिक्षा के

अधिकारी दूसरे हैं, जो मोक्षमार्गी हैं, आत्मा की तरफ चलनेवाले, आत्मा को ही चाहनेवाले हैं, पर हम लोगों जैसे हैं; जिनमें थोड़ा-बहुत सत्त्वगुण होने पर भी उसका प्रभाव स्थिर नहीं रहता। जिस समय सत्त्वगुण बढ़ा होता है उस समय विचार करनेकी जरूरत नहीं पड़ती, उस समय केवल ब्रह्मचिन्तन चलता है। किन्तु शीघ्र ही रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता होती है जिससे ज्ञान स्वाभाविक नहीं रह जाता, तभी ऐसा विचार करने की जरूरत होती है कि एकमात्र ब्रह्म ही अनुभव करने की चीज है, आत्मस्वरूप से ब्रह्म का ही एकमात्र चिन्तन करना चाहिए। उस चिन्तन में विघ्न आता है परापचार से। परापचार के प्रतिरोध में क्रोध आता है। क्रोध आये और यदि इस प्रकार उसे वश में नहीं करें तो गलत रास्ते में पड़ जायेंगे। क्रोध बड़ा भयंकर मद है। मनुष्य क्रोध के पीछे भयंकर से भयंकर नुकसान कर लेता है। दो भाईयों की लड़ाई होती है। उन्हें समझाते हैं 'तुम लोग लाखों रुपये वकील को दोगे, आपस में ही सलट लो', पर वे क्रोध के वेग में कहते हैं—'मैं चाहे सड़क पर जाकर रहूँ पर इसे तो सड़क पर लाकर ही रहूँगा'। क्रोध की सब चीजों को भुलाने की प्रवृत्ति है। भगवान् ने गीता में कहा— 'क्रोधात् भवति सम्मोहः'। क्रोध से मनुष्य मोह में आ जाता है, विवेक छूट जाता है। विवेकी हो, तब सोचे कि 'भाई फुटपाथ पर आ गया तो मेरा क्या फायदा?' कामभोग और अर्थभोग की दृष्टि से देखें तो भी इस ढंग की दुश्मनी व्यर्थ की बात है। इसी का नाम सम्मोह है। जब व्यक्ति पर मोह छा जाता है तब वह समझी हुई बात भी भूल जाता है। इसलिए परापचार आदि निमित्त से पथभ्रष्ट होने की स्थिति में ज्ञानांकुश का प्रयोग करना साधक के लिए अति आवश्यक है।

क्रोध आने पर सम्मोह होता है तब विचार कैसे करें? जिस समय हाथी मदमस्त है उस समय महावत उसे दस-बीस बार अंकुश भोंकता है तब तक वह उन्मार्ग में ही चलता है, जब भोंकते-भोंकते उसका मद क्षीण हो जाता है, मद निकलता है, तब वह धीरे-धीरे शान्त हो

जाता है। इसी प्रकार जब हम प्रारम्भ में क्रोध आने पर यहाँ बताई बातें सोचेंगे तब क्रोध करने से रुकेंगे नहीं पर बार-बार इन पर विचार करने से क्रोध के मद में थोड़ी कमी आती जायेगी। धीरे-धीरे वह शान्त हो जायेगा। जिन बातों को यहाँ कहेंगे वे वास्तव में कल्पना नहीं हैं, यथार्थ हैं, पर इस समय हमारे मन-बुद्धि को ये वास्तविक लगेंगी नहीं। परन्तु जबरदस्ती हम कल्पना की क्रिया बार-बार करते ही रहेंगे तो वेग कम हो जायेगा। जो बातें कह रहे हैं वे कल्पना नहीं पर हमें इस प्रकार की कल्पना करनी है। कल्पना का भी अर्थ कर दिया—'समर्थना'। किसी चीज का समर्थन करने का अर्थ होता है उसके प्रति आन्तरिक स्वीकृति होना। यह जो कल्पना है यह वास्तविक होने के कारण पहले श्रवण-मनन से इस तत्त्व को समझा हो तब क्रोध की स्थिति में भी 'सच्ची बात तो यही है' यह भाव मन में रहता है। प्राय: जितने सनातनधर्मी हैं उनमें कोई यह नहीं कहता कि 'मुझमें भगवान् नहीं हैं'— चाहे जितना भी कामुक हो, क्रोधी हो, लोभी हो, ऐसी भावना उसके मन में नहीं आती कि मुझमें भगवान् नहीं है। मोक्ष सबसे अच्छी चीज है, यह भी सब मानते हैं। अत: अन्दर से सबको कुछ-न-कुछ इन तथ्यों के प्रति स्वीकृति है। श्रवण-मनन करनेवाला जानता है कि क्रोध करना ठीक नहीं है पर कहता है—'आज मुझे छोड़ दो, आज तो मैं अपने मन का ही करूँगा।' ऐसा व्यक्ति ही कल्पना कर सकता है जो हृदय से इस सत्य को स्वीकारे। परन्तु जिसके अन्दर ऐसा भाव ही नहीं है वह कहेगा—'यह सब बेकार है। इससे क्या होना है?' अत: कल्पना का अर्थ कर दिया—समर्थना। उसके द्वारा मनरूप हाथी के प्रति बार-बार इन लोकों में बताई गयी कल्पना करना है; जैसे हाथी को बार-बार इसे मारना पड़ता है वैसे ही इन कल्पनाओं को बार-बार करें; यह अंकुश की तरह है। अंकुश को बार-बार मन में लाना पड़ेगा। जो यहाँ बताया जायेगा वही मनरूप हाथी को वश में करने का एकमात्र उपाय है अर्थात् विचार के सिवाय और कोई दूसरा मार्ग इसमें काम आता नहीं।

दो ही मार्ग बताये हैं–योगमार्ग और विचारमार्ग। योगमार्ग के अन्दर तीव्र काम क्रोधादि, जब तक समाधि लगे तब तक के लिए रुक जाते हैं परन्तु समाधि के समाप्त होने पर फिर वैसे-के-वैसे सामने खड़े हो जाते हैं। अत: मन को हमेशा के लिए वश में करने का एकमात्र उपाय विचाररूप अंकुश है। वश में करने का तात्पर्य है कि मन उन्मार्ग को छोड़कर सन्मार्ग पर चले। योग के द्वारा उन्मार्ग पर गमन तो रुक जायेगा पर जैसे ही विक्षेप की स्थिति आयेगी, पुन: वैसी ही प्रवृत्ति हो जायेगी। इसलिए योगमार्ग द्वारा उन्मार्ग को छोड़कर सन्मार्ग की तरफ नहीं ले जाया जा सकता। यह शंका नहीं कर सकते कि योग अनावश्यक है। कोई बहुत ही पागल हाथी हो तो वह अपने सिर पर महावत को बैठने ही नहीं देगा, पटक कर फेंक देगा। ऐसे में चारों तरफ लोहे का जाल बाँधकर उसे गड्ढे में डालना पड़ता है। वहाँ जब भूख-प्यास से क्षीण हो जाता है तब उसे निकालकर सन्मार्गवाला बनाते हैं। इसी प्रकार मन जब अत्यधिक उद्वेलित होता है तब कुछ समय के लिए जबरदस्ती करना ज़रूरी होता है। अत: योग भी प्रयोजन वाला है, निष्प्रयोजन नहीं। पर उतने मात्र से पूर्ण नियंत्रण नहीं होता। जैसे द्रव्य (मैटर) होता है वैसे उसका एक प्रतिद्रव्य (एण्टी मैटर) होता है। द्रव्य और प्रतिद्रव्य को जब आमने-सामने मिला दिया जाता है तब शून्य हो जाता है। शून्य का अर्थ है कि नामरूप का अभाव हो जाता है। ठीक इसी प्रकार प्रतिपक्षभावना जब उतनी ही दृढ हो जाती है जितना पक्ष, तब पक्ष और प्रतिपक्षभावना एक दूसरे को काटकर आत्मस्वरूप में स्थिति हो जाती है। क्रोधादि जितने भी विकार हैं वे सब सदैव ही स्वाभाविक रूपसे उपस्थित रहते हैं, उनमें कोई नवीनता नहीं है। नवीनता तो प्रतिपक्षभावना करने में है।। १।।

जिन कल्पनाओं से रजोगुण और तमोगुण आ जाने पर उनपर अंकुश से नियंत्रण लाया जाता है उनका क्रमश: विस्तृत वर्णन करते हैं–

यया कल्पनयाऽङ्कुशम् आनयेत् साऽधुनोच्यते–

यथा ममात्मप्रियसम्पदुद्यमस्तथा परेषामथवा विशेषत:।
अवाप्नुयुश्चेद् मदभिप्लवात् प्रियं न ते चरेयु: कथमात्मन: प्रियम्।।२।।

यथेति दृष्टान्तो, ममात्मप्रियसम्पदुद्यमः आत्मनः प्रियं आत्मप्रियं तस्य सम्पदात्मप्रियसम्पत्तदर्थमुद्यम उत्साहो यथा, तथा परेषां प्राकृतानामज्ञानिनामथ वा विशेषतः एवात्मप्रियसम्पदुद्यमस्तेषां; कथं कस्माद्वा न चरेयुः आत्मनः प्रियं, युक्तमेव तेषां; अवाप्नुयुः प्राप्नुयुश्चेद्यदि मदभिप्लवाद् विनाशात् प्रियमिष्टं ते परे मदभिप्लवाचरणमित्यभिप्रायः।।२।।

जैसे मैं उसी के लिये प्रयास करता हूँ जो मुझे प्रिय है वैसे ही अन्य लोग भी करते हैं, बल्कि अज्ञानी लोग कामना से अधिक ही प्रवृत्त हों यही ठीक है। यदि मुझे परेशान करने से इन्हें प्रसन्नता होती है तो अपनी खुशी का कार्य ये क्यों न करें?

हर आदमी जिसको अपना प्रिय समझता है उसकी प्राप्ति का प्रयास करता है। हमारे काम या अर्थ को कोई चुराना चाहता है तो इसीलिए कि वे अर्थ और काम हमारे पास हैं। यदि हमारे पास वे होते ही नहीं तो कोई चुराता भी नहीं। आचार्य शंकर कहते हैं—जब हम एक कौर भी खाते हैं तो मक्खियाँ सोचती हैं कि उन्हें मिल जाय, कुत्ता सोचता है कि उसे मिल जाय, कौवा सोचता है कि उसे मिल जाय। इसलिए एक कौर भी हम बिना हिंसा किये, बिना दूसरों को दुःख दिये, नहीं खा सकते। कौवा हमारी प्रिय सम्पत्ति लेने आता है अतः हमें गुस्सा आता है। विचार करना चाहिए कि वह कौर मेरी प्रिय संम्पत्ति है तभी मैंने उसको अपने पास रखा है। जब मैं अपनी प्रिय संपत्ति के लिए इतना प्रयत्न कर सकता हूँ तब जिसे भी वह प्रिय है वह उसे पाने के लिए हर सम्भव प्रयास करेगा ही। हमें प्रिय लगता है इसीलिए हम मेहनत कर दाल का हलुवा तैयार करते हैं। बिल्ली को भी वह प्रिय है अतः वह भी उस पर झपटने की मेहनत करती है, तब हम बिल्ली पर गुस्सा करें इसमें क्या उपपत्ति हो सकती है? जैसे मैं अपनी प्रिय सम्पत्ति के लिए उद्यम करता हूँ, वैसे ही दूसरे करते हैं। क्रोध करने की बात कहाँ है? जो अनात्मा को ही सर्वस्व

समझते हैं वे उसके लिए ही प्रयत्न करते हैं। मैं तो आत्मा को प्रधान प्राप्तव्य समझता हूँ इसलिए अनात्मा के लिए कुछ कम ही प्रयत्न करता हूँ पर अन्य लोग तो मुमुक्षु हैं नहीं अत: मेरे प्रयास से भी अधिक प्रयास अनात्मा के लिए करें यह ठीक ही है। आत्मा को परोक्षत: भी जानने वाला तो समझता है कि अनात्म पदार्थ आयेंगे-जायेंगे, उनसे आत्मा का वास्तविक सम्बन्ध हो नहीं सकता। इस बात को जानकर भी क्षणिक सुख के लिए उसकी प्रवृत्ति हो जाती है तो जो अज्ञानी विषय-सुख को ही एकमात्र आनन्द समझते हैं वे उसके लिए विशेष उद्यम करें, यह ठीक ही है। वे अपनी प्रिय वस्तु के लिए विशेष उद्यम क्यों नहीं करेंगे! मेरे लिए अनात्मपदार्थों की कोई महत्ता नहीं है परन्तु वे अनात्मा से भिन्न कुछ जानते ही नहीं। अत: उनको उसके प्रति प्रियता का बोध हो यह तो संगत ही है।

यह वृत्ति स्थिर हो तो ऐसी स्थिति बनती है: एक महात्मा बैठे, ग्रन्थ देख रहे थे। अकस्मात् एक चोर आ गया, बोला—'जो कुछ है, दे दो।' महात्मा ने कहा—'यह चाबी है, वह तिजोरी है, तुम्हें जो कुछ लेना है ले लो'। चोर ने सोचा यह तो सीधा मामला है। उसने चाबी ली, तिजोरी खोली, सारा धन निकाल लिया। जाने लगा तो महात्मा ने कहा 'ऐसे नहीं जाया जाता। तिजोरी को बन्द करो, चाबी को यथास्थान रखो'। चोर ने सोचा इतने में क्या हर्ज, वैसा ही कर दिया। महात्मा ने फिर कहा 'साथ में शुक्रिया भी अदा करो'। चोर ने वह भी कर दिया, चला गया। कुछ समय बाद वह चोर पकड़ा गया, महात्मा की चीज़ें भी पकड़ी गयी। महात्मा से लोगों ने आकर पूछा कि 'आपकी चीज़ें किसी ने चुरायी?' उन्होंने कहा 'मेरी चीज़ें किसी चोर ने नहीं चुरायी अपितु एक भला आदमी आया था, उसको जरूरत थी, मैंने लेने को कह दिया। वे ही चीज़ें होंगी।' लोगों ने पूछा, 'तो क्या यह चोर नहीं है?' महात्मा ने कहा—'नहीं-नहीं, इसने तो मुझे धन्यवाद दिया'। यदि एक चोर समझता है कि 'इन चीजों को लेकर ही मुझे

की प्राप्ति होगी' तो वह क्यों नहीं चोरी करेगा? महात्मा को यह ज्ञात है कि प्रारब्ध से ही चीज़ आती है और प्रारब्ध से चली जाती है, पर चोर तो यह नहीं जानता।

मेरा विनाश करके, मेरा नुकसान करके, मेरा अभिप्लव करके ही जब किसी को सुख मिलता है तब वह वैसा करे यही स्वाभाविक है। अभिप्लव में वध-पर्यन्त विनाश हो सकता है। कई चीजें ऐसी होती हैं जो मुझे मारे बिना उनको प्राप्त हो नहीं सकतीं। उनके लिए वे मेरा वध भी कर लें तो युक्तिसंगत है। अतः मेरा जो नुकसान करना चाहता है वह भी अपनी प्रिय सम्पत्ति को ही लेना चाहता है, इसमें उसका क्या अपराध है? न्यायशास्त्र का यह नियम है— कि पक्ष और विपक्ष में जो सामान्य दोष होता है उसे दोष नहीं कहना चाहिए। वह दोष न हम पर लग सकता है न हमारे विपक्षी पर। ठीक इसी प्रकार से जो हमें प्रिय लगता है, इष्ट लगता है, उसके लिए हम जैसा आचरण करते हैं, वैसा आचरण अन्य कोई करे तो उसके ऊपर हम दोष का आरोपण नहीं कर सकते। 'उसने अपने मतलब के लिए मेरा नुकसान किया'— यही दोष दिया जाता है। पर यह दोष बनता नहीं क्योंकि मैं भी अपने लिए उस दोष को बचाकर रखना चाहता हूँ। 'मैं' और 'वह' दोनों ही अपने-अपने लिए जिस दोष का अनुष्ठान करते ही हैं वह दोष किसी एक के सिर नहीं मढ़ा जा सकता। अतः दूसरे के द्वारा जब परिभव या हानि को प्राप्त करे, अपमान को प्राप्त करे, तब किसी प्रकार भी शोक नहीं करना चाहिए।।२।।

अन्यों द्वारा परिभव किया जाने पर व्यक्ति प्रायः अपनी निर्दोषता मानकर 'मेरे प्रति अन्याय हुआ' ऐसा समझता है; ऐसा भी नहीं समझना चाहिए यह समझाते हैं—

परैः परिभूत इदमपि न चिन्तयेत्—

न मेऽपराधः किमकारणे नृणां मदभ्यसूयेत्यपि नैव चिन्तयेत्।
न यत्कृता प्राग्भवबन्धनिस्सृतिस्ततोऽपराधः परमोऽनुचिन्त्यताम्।।३।।

न मेऽपराधो दोषोऽस्ति कश्चन किमकारणे त्वसति दोषे कस्मिंश्चिन्निमित्तेऽपराधे मदभ्यसूया मय्यनपराधिन्यभ्यसूया मम गुणेषु नृणां पुरुषाणामक्षमेत्यपि नैव चिन्तयेत्। कस्मान्न? यद्यस्मान्न तु तत्प्रागतिक्रान्ते जन्मनि भवबन्धनिस्सृतिः भवे जन्मनि बन्धो भवबन्धः तस्मात् भवबन्धान्निस्सरणं निस्सृतिः तस्मात् भवबन्धनिस्सृतेः पूर्वमेवाकरणात् परमो महत्तरः अपराधः अनुचिन्त्यताम् निरूप्यताम्।।३।।

'मेरी कोई गलती नहीं, बिना कारण ही लोग मुझसे असूया क्यों करते हैं'—ऐसा भी नहीं सोचना चाहिये बल्कि यह विचार करना चाहिये कि 'पूर्व जन्म में मैंने मोक्ष प्राप्त नहीं कर लिया यह मेरा घोर अपराध है।'

जब अन्य कोई हमारा विरोध, अभिप्लव, नुकसान करता है तब प्राय: यही स्वाभाविक प्रतिक्रिया होती है कि हम सोचते हैं कि 'मैंने क्या गलती की जो मेरे ऊपर यह विपत्ति आ गई। कौन-सी गलती का दण्ड मिल रहा है।' हमें लगता है कि 'बिना ही कारण के लोगों को मेरे प्रति असूया होती है, मेरे ऊपर दोष लगाते हैं। मैंने इनका कुछ बिगाड़ा नहीं और ये मेरे ऊपर दोष लगाते हैं।' यह शिकायत प्राय: उन लोगों को होती है जो किसी के लिए कुछ अच्छा करते हैं। जो किसी के लिए कुछ नहीं करते उनको यह शिकायत भी नहीं होती। लेकिन जो किसी की मदद करते हैं और उन पर जब दोषारोपण होता है तब बुरा भी अधिक लगता है और अपनी निर्दोषता भी अधिक महत्त्वपूर्ण लगती है। बंगाल में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर हुए हैं, वे बड़ी कठिनाई से पढ़े थे। लड़कों से किताबें मांगकर रात को जो सड़क पर गैस की बत्ती जलती थी उसके नीचे पढ़ा करते थे क्योंकि घर में न तो बत्ती जलाने के पैसे थे और न ही किताब खरीदने को। रात में पढ़कर सवेरे किताब वापस दे देते थे। वे बहुत बड़े विद्वान् बने, अध्यापक बने, लेकिन उन्होंने अपने घर का कोई खर्चा नहीं बढ़ने दिया, गरीबी में ही रहते थे और सारे पैसे गरीब विद्यार्थियों के पढ़ने के लिए खर्च

खर्च कर देते थे। इतने कष्ट में पढ़े थे तो उनके मन में था कि विद्यार्थियों को किताबें आदि मिलें। किन्तु जिन-जिन की उन्होंने मदद की, वे सब उन पर कोई-न-कोई दोषारोपण करते थे! जीवन के अन्त में कोई अगर उनको बताये कि 'अमुक आपकी बुराई कर रहा था' तो कहते थे कि 'मैंने तो उसकी कोई मदद नहीं की, वह मेरी बुराई क्यों कर रहा था?' उनके मन में बैठ गया था कि जिसकी मदद करो वह बुराई करेगा ही। जब कोई हमारा अपकार करे तब मन में आता है कि 'मैंने तो इसकी कोई हानि नहीं की, मुझ पर यह दोष क्यों लगा रहा है?' पर साधक को यह बात भी कभी नहीं सोचनी चाहिए क्योंकि मैंने भी अपराध किया है, ऐसा नहीं है कि मेंने अपराध नहीं किया। मेरा अपराध यह है कि मैंने जन्म लिया! यही मेरा सबसे बड़ा अपराध है। पूर्वजन्मों के कर्मों के कारण यदि मेरा जन्म नहीं होता तो ये लोग मुझ पर अभ्यसूया करते भी नहीं। असली गलती है कि मैंने जन्म लिया। यह कोई कम बड़ा अपराध नहीं है। इस जन्म से पहले संसार-बंधन के कारण को दूर नहीं किया यह मेरा परम अपराध है। इसलिए कोई मेरे ऊपर झूठा दोष नहीं लगा रहा है। दोष इसलिए लगा रहा है कि पूर्वजन्मों में मैंने मोक्षोपयोगी यत्न न करना-रूप अपराध कर रखा है। इस बात को याद रखना चाहिए कि मेरा भी अपराध है। मैंने जन्म लिया– यही अपराध है। फ्राँस का एक बड़ा सेनाध्यक्ष था। उसकी वर्दी पर पच्चीस मेडल लगते थे। किसी ने पूछा 'आपको इतने मेडल कैसे मिले?' उन्होंने कहा कि 'जो बड़ा मेडल देख रहे हैं, यह पहले मिला, इसके बाद ये बाकि सब अपने आप आते चले गए'। इसी प्रकार मैंने जन्म लेने का मेडल प्राप्त किया तो लोगों की गालियाँ आदि सब अपने आप जुड़ते चले जायेंगे। इसलिए इसको परम अपराध कहा। जैसे परमवीर चक्र होता है वैसे ही यह हमारा परम अपराध है कि जन्म लिया।

'असूया' का अर्थ होता है गुणों को भी दोष समझना। किसी में कोई गुण है और उसे हम दोष मानें, यह असूया है। जैसे हिन्दुओं

के अन्दर क्षमा करने का गुण होता है। यदि आठ सौ सालों का मुसलमानों का इतिहास देखें तो पाते हैं कि वे हमसे क्षमा ले कर जाते थे और फिर हमारा नुकसान करते थे। आज के लोग़ यही दोष देते हैं कि 'आप लोगों ने मुसलमानों को बार-बार माफ करके गलतियाँ की'। वस्तुत: क्षमा गुण है, दोष तो नहीं है, पर आज के लोग उसको दोष मानते हैं। इसी प्रकार हमने परमात्मा के अनंत नामरूपों को समझा है, यह गुण है। किन्तु असूया-दृष्टि वाले कहते हैं कि बहुदेववाद ने हिन्दू समाज को छिन्न-भिन्न कर दिया, एक ही देवता होना चाहिए। परमात्मा के अनंत रूपों को समझना गुण है, पर वही लोगों को दोष दीखता है। इसी प्रकार शान्ति आपस में झगड़ने से नहीं आती, शान्ति मिल-जुल कर रहने से होती है। अत: भारत की वर्णव्यवस्था ऐसी है जिसमें सब घटकों में मेल-जोल रहे। इस व्यवस्था में सुनार सुनारी का काम करे, लोहार लोहारी का काम करे, पुजारी पूजा का काम करे, फौजी फौज का काम करे, बनिया बनिये का काम करे; सब अपना-अपना काम करें, जिससे सब लोग एक ही काम के लिए दौड़कर आपस में लड़ें नहीं यह सुनिश्चित हो जाता है। यह शान्त समाज के लिए बहुत अच्छी और बेजोड़ व्यवस्था है पर यही दोष दिया जाता है कि 'आप लोगों ने वर्णव्यवस्था बनाकर, जातिभेद पैदाकर हिन्दू धर्म को, भारतीय समाज को नष्ट कर दिया'! इसका नाम असूया अर्थात् गुण में दोष देखना है। दोष उपस्थित होने पर दोष देखना असूया नहीं है क्योंकि वहाँ तो कारण उपस्थित होने पर कार्य है। मैंने तुम्हें गाली दी, तुमने कहा कि 'तुम गाली देते हो'—यह तो हुआ दोष बताना। पुराने जमाने में रेल के अन्दर सीटों का आरक्षण नहीं होता था, जगह मिले तो बैठ जाते थे, नहीं जगह हो तो खड़े रहते थे। एक ब्रह्मचारी रेल से जा रहा था। कहीं जगह थी नहीं। एक औरत ने अपने बक्से और भोजन की थैली सीट के ऊपर रखी थी। ब्रह्मचारी को काफी दूर जाना था। उसने कहा 'माताजी, आपके भोजन की टोकरी बक्से पर रखकर उस जगह मैं बैठ जाऊँ?' औरत ने कहा 'जबान सम्हालकर

बात कर। क्या बोल रहा है? मैंने तेरे बाप के साथ कब दुराचार किया, मुझे माताजी बोल रहा है!' बेचारा घबरा गया। उसने कहा था माता, यह गुण की बात थी, सद्भाव से कहा था, पर उस महिला ने उसमें दोष ढूँढ लिया कि इस शब्द से दुर्भाव प्रकट कर रहा है। यह असूया है। यदि वह गाली देता और वह फटकारती तो कारण–कार्य माना जाता। उसके शब्दों का जबरदस्ती विपरीत अर्थ करके उसमें दोष निकाला, अतः असूया का परिचय दिया।

ऐसा क्यों होता है? दूसरे के गुणों को आदमी सहन नहीं कर सकता। दूसरे के दोष बड़े मीठे लगते हैं। अगर हम किसी अफसर के बारे में कहें कि वह ईमानदार है तो अधिकतर लोग विश्वास नहीं करेंगे पर अगर हम कहें कि वह पैसा खाता है तो सबको निश्चय हो जायेगा। किसी को शंका नहीं होगी कि 'इन्हें पता नहीं है, इधर–उधर से सुनकर कह रहे हैं।' मनुष्य का यह विचित्र स्वभाव है कि दूसरों में गुण सहन नहीं कर सकता। कारण क्या है? जो स्वयं दुष्ट है, दोषवाला है वह अपने मन को इसी से प्रसन्न रखता है कि सब दोषवाले हैं। किसी के घर जाओ, वे पूछें 'दूध पीयेंगे?' तुम कहो 'नहीं', तो कहेंगे 'चाय लेंगे? नींबू की शिकंजी लेंगे?' किन्तु तुम किसी के घर जाओ, पूछे 'शराब पीयेंगे?' तुम कहो 'नहीं', तो कभी नहीं कहेगा कि 'अच्छा, नींबू का पानी पीओ', बल्कि तुरन्त कहेगा 'क्यों? शराब में क्या खराबी है? क्यों नहीं पीते?' तुम शराब पीने वाले नहीं हो यह उसे सहन नहीं होता। वह पूछेगा 'अमुक दवा लेते हो, उसमें भी शराब होती है, उसे क्यों पीते हो?' औषधि के लिए लेना और नशे के लिए लेना—दोनों में क्या फर्क है यह वह नहीं देखता, किसी–न–किसी तरह निर्णय करना चाहता है कि सामने वाला भी शराबी है। हमने तो ऐसे लोगों को देखा है जो शरीर के रसायन विज्ञान तक जाते हैं कि जितने भी हम कार्बोहाइड्रेट्स लेते हैं, जितनी भी हम शर्करा वाली चीजें लेते हैं, वे सारी पेट में जाकर ऐल्कोहॉल में परिवर्तित होती हैं।

हम लोग सब जानते हैं कि डट के चावल और छाछ खा लो तो नींद आती है। इसका अर्थ है कि खाये हुए भोजन का पाक ऐसा हुआ जो तामसता बढ़ा रहा है। यह कार्य अल्काहॉल या शराब का है। लेकिन चाहे जितना दही-भात खा लो कभी नशा नहीं आने वाला, अण्ड-बण्ड नहीं बकोगे, नालियों में नहीं पड़ोगे। अत: रसायनदृष्टि से शराब और पचता हुआ अन्न समान होने पर भी दोनों में महान् भेद है। लेकिन शराबी इस भेद को छिपाकर समानता से सिद्ध करता है कि सभी शराबी हैं ही तो शराब पीना कोई दोष नहीं। दूसरे में गुण को देख कर सहन नहीं कर सकता इसलिए वह उस गुण में भी किसी-न-किसी दोष को निकाल लेता है।

किन्तु साधक के लिए यह बात भी चिन्ता का विषय नहीं है कि 'क्यों लोग मुझपर दोष लगाते हैं, मेरे गुणों को सहन क्यों नहीं कर सकते?' साधक को इस विषय में क्यों नहीं सोचना चाहिए? क्योंकि उसे यह समझना चाहिए कि वह वास्तव में दोषी है ही, मोक्ष न पाकर जन्म ग्रहण किया, यही उसका बहुत बड़ा दोष है। क्योंकि अनादि संसार-चक्र में इससे पूर्व भी इस मनुष्ययोनि में, अधिकारी-योनि में आये ही थे, फिर भी तब हमने संसार-बंधन की निवृत्ति के लिए आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं की अत: हमारा महान् दोष अवश्य है। इसलिए लोग हमारे गुणों में दोष नहीं निकाल रहे हैं वरन् हमारे उस बड़े दोष को देख कर ही हमें दोषी कह रहे हैं। जन्म हुआ है तभी अन्य सारे दोष हैं। तुमने जब जन्म लेने का दोष कर लिया तब बाकि सब दोष तो जुड़ ही जायेंगे।

भव शब्द का मतलब है 'होना'। सारा संसार निरंतर *होता* ही रहता है, इसके अन्दर हमेशा कुछ-न-कुछ हो ही रहा है। इसलिए यह संसार भव-शब्द से कहा जाता है। संसार की वास्तविकता जो परमेश्वर, वह भी भव-शब्द से कहा जाता है। शिवमहिम्न: में 'भव: शर्वो रुद्र:' आदि श्लोक में भगवान् शंकर को भव कहा है। पुन: 'बहलरजसे

विश्वोत्पत्तौ भवाय नमोनम:' में कहा– सृष्टि करने वाले आपके भवरूप को नमस्कार है। भव भगवान् शंकर का भी रूप है और भव संसार को भी कहते हैं। जब लोग कहते हैं 'इस भव सागर में पड़े हुए हैं' तब संसार को भव शब्द से कहते हैं। संस्कृत भाषा में अस् धातु का अर्थ भू-धात्वर्थ बताया और भू धातु का अर्थ सत्ता को बताया, यों अस् से 'है' और भू से 'होना' समझा जाता है। अत: दोनों अर्थों में भेद भी है, एकता भी है। दोनों के अर्थों में भेद क्यों है? ज्ञान की दृष्टि से जो भव अर्थात् शिव है वह तो एकरूप है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। बिना परिवर्तन हुए ही माया की दृष्टि से वही सारा संसार *बन* जाता है। अत: संसार का अधिष्ठान एकरस सद्रूप, है-रूप, होने से भव है जब कि नाम–रूपात्मक संसार माया से अध्यस्त होने के कारण, परिवर्तन–रूप होने के कारण, 'होता रहने' के कारण भव है। शिव व संसार दोनों को संस्कृत में इसलिए भव शब्द से कह देते हैं।

जिसे हम 'होता है' कहते हैं उसे यदि विचार की दृष्टि से देखो तो वहाँ *होता* कुछ नहीं है। जैसे अंधेरे में रस्सी साँप होती है तो रस्सी रस्सी रहते हुए भी साँप प्रतीत होती है। इसी प्रकार मिट्टी मिट्टी रहते हुए ईंट प्रतीत होती है। मिट्टी में कोई परिवर्तन नहीं होता, फिर भी वह ईंट–रूप वाली दीखती है। घड़ा दीख रहा है। सिकोरा दीख रहा है। घड़ा, सिकोरा आदि सब रूपो में दीखने पर भी मिट्टी के स्वरूप में कोई परिवर्तन है नहीं। ठीक इसी प्रकार परमात्मा अनेक रूपों में दीखने पर भी वस्तुत: उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता है। 'है' इस अर्थ में शिव भव है। 'होता है' इस अर्थ में संसार भव है। 'होता है' का मतलब है कि एक रूप में जन्म लिया। भुर–भुरी मिट्टी ने ईंट के रूप में जन्म लिया तो ईंट *हो* गयी; इसी प्रकार मिट्टी ने घड़े के रूप में जन्म लिया तो घड़ा हो गया या मिट्टी घड़ा हो गयी। कारण जिस रूप में था उससे अन्य किसी रूप में प्रकट होना ही जन्म है।

इसी प्रकार एक अखण्ड आत्मा ही तृण, कीट आदि से लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त सारे रूपों में प्रकट होता है। निज स्वरूप में वह जैसा है वैसा ही बना रहता है। यह प्रकट होना ही बंधन है। जो चीज जैसी नहीं है उसकी वैसी प्रतीति होना बन्ध है। सोने का गहना बना। जब तक तुम्हें उसमें सोने की प्रतीति रहती है तब तक वह बंधन नहीं है। बन्धन कब होगा? जब गहनेकी प्रतीति होवे और सोने की प्रतीति न होवे। दिल्ली में बहुत बड़े-बड़े सुनार हैं। उनके बने गहने देखकर आश्चर्यचकित रह जाओगे। पर उनसे खरीदना मत! यदि उस सोने की जाँच कराओगे तो दुःख ही पाओगे। इतना मोटा सोने का पानी चढ़ा होता है कि दस-बीस साल तक पहनते रहो, पता ही नहीं चलता है कि सोना नहीं सिर्फ सोने का पानी है। इसी प्रकार इस संसार के अन्दर सच्चाई क्या है?—यह अनात्मा में ही लगे हुए लोग सोचते नहीं हैं। इतना बढ़िया यह मुलम्मा है कि अनादिकाल से अनन्त काल तक अनात्मा सच ही लगता है। बिना परमात्मसाक्षात्कार के इसका मुलम्मा उतरना कभी नहीं है। अब कभी अगर तुम्हारे मन में आ गया कि 'अरे! क्या इसमें कोई चीज स्थिर भी है, सच्ची भी है?' तब परीक्षा करने जाओगे तो देखोगे कि यह सारा खोटा ही है। इसलिए यह भव ही बन्धन है। यह जो नाम-रूप की प्रतीति है यही बन्धन है।

इस प्रकार वेदादि सच्छास्त्रों में बताये रास्ते पर चलकर मन शुद्ध बनाकर मैंने वास्तविकता नहीं जानी और बंधन में ही पड़ा रहा—यह मेरा महान् अपराध अवश्य है अतः मुझे दोषी कहा जाना सर्वथा संगत है। मनमाने रास्ते पर चलने पर मनुष्य भटक जाता है, ठीक रास्ते पर यदि चले तो गन्तव्य पर पहुँच जाता है। पहले के जन्मों में मोक्षार्थ यत्न नहीं किया अर्थात् शास्त्रों की आज्ञा नहीं मानी यही सबसे बड़ा दोष है।।३।।

नीच जनों के द्वारा गाली इत्यादि दिये जाने पर हमेशा कैसा चिंतन करना चाहिए यह बताते हैं। लोग हमेशा अपने स्वभाव से प्रवृत

होते हैं। उनकी क्रिया या प्रतिक्रिया में प्रधान हेतु उनका स्वभाव है। अत: जरूरी नहीं कि वे हमारे प्रति जो करते हैं उसमें निमित्त हमारी कोई चेष्टा हो। हमारी गलती पर हमपर आक्रोश करें यह नीच लोगों के लिए नियम नहीं लागू होता। जो स्वभाव से ही नीच होते हैं उनकी दृष्टि नीच रहती है, वे हमेशा भले आदमियों पर आक्रोश करते हैं। नीच जनों का स्वभाव से ही नीचजनों के प्रति सद्भाव रहता है और शिष्ट जनों के प्रति हमेशा आक्रोश रहता है। इसलिए साधक यों चिंतन करे—

सदा नीचजनैः आक्रुष्ट परिभूतो वा इदं सञ्चक्षीत—

अयं जनः कर्मवशाद्विलक्षणः प्रसूतिविद्याभिनिवेशकर्मभिः।
किमत्र चित्रं यदि युक्तमाचरेत् प्रसूतिविद्याभिनिवेशकर्मणाम्।।४।।

अयं लौकिको जनः स्वकर्मवैचित्र्यवशाद्विलक्षणः अन्यः। कैर्धर्मैर्विलक्षण इत्याह प्रसूतिविद्याभिनिवेशकर्मभिः—प्रसूतिर्जन्म विद्या विज्ञानम् अभिनिवेशोऽभियोगः तात्पर्यं कर्म च शास्त्रीयमितरच्च तैः प्रसूतिविद्याभिनिवेशादिभिरेतैः किमत्र चित्रं विचित्रे तु संसारे कोऽत्र विस्मयः। यदि प्रसूतिविद्याभिनिवेशकर्मणां युक्तमनुरूपं कर्म आक्रोशाद्याचरेदिति न किञ्चिद्दोषवत्तच्चिन्तयेदिति।।४।।

जन्म, ज्ञान, आग्रह व कर्म—इन सब दृष्टियों से यह व्यक्ति निज प्रारब्धवश विलक्षण है और यदि अपने जन्मादि के अनुरूप अचारण करे तो इसमें आश्चर्य क्या है!

जो 'जन' है, जन्म-मरण के चक्र में पड़ा है उसने पहले जो कर्म किये हैं उन के कारण उसे यह जन्म मिला है। यह प्रसिद्ध है कि लखनऊ के लोग हमेशा अच्छी भाषा का प्रयोग करते हैं। किसी लखनऊ वाले का और किसी शहर वाले से झगड़ा हुआ, अन्य शहर वाले ने इसे माँ-बहन की गालियाँ दे दी तो लखनऊ वाला उससे बोला

'देखो! अगर आप ज़बान नहीं सम्भालोगे तो आपकी माँ के बारे में मेरी जबान से कोई गलत बात निकल जायेगी'। गाली के जवाब में भी वह गाली नहीं दे पाया! अच्छे घर में जन्म लेने वाले के द्वारा नीच भाषा का प्रयोग होता ही नहीं है। गुस्सा तो आता है लेकिन असभ्य भाषा का वे प्रयोग कर नहीं सकते। जिसने नीच घर में जन्म लिया है वह हँसी-मजाक में भी गालियाँ दिया करता है। एक सज्जन थे कलकत्ते में। रिक्शेवाले से कुछ कहा-सुनी हो गयी, बोला 'अबे साले, इतने पैसे होते हैं। 'रिक्शावाले ने कहा 'गाली क्यों दे रहे हो?' तो वे बोले 'कौन साला गाली दे रहा है?' नीचजन सामान्य बातचीत में भी इसी प्रकार के दुर्वाक्यों का प्रयोग करते हैं। मनुष्य को अपने पूर्वजन्मों के कर्मों के फलस्वरूप ऐसे घरों में जन्म मिलता है जहाँ उसी तरह का आचार-विचार प्रचलित होता है। इसलिए व्यक्ति का व्यवहार आश्चर्य का हेतु नहीं होना चाहिए।

जन्म लेने के बाद भी यदि मनुष्य को ठीक संस्कार, विद्या आदि प्राप्त हो तो सुधार होता है। और इसके विपरीत, यदि अच्छे घर का व्यक्ति भी बुरी तरह की विद्याओं को प्राप्त करता है तो वह वैसा हो जाता है। एक पुलिस अधिकारी हमें बताते थे कि उन्हें गाली देना सिखाया जाता है। एक अध्यापक इसके लिए नियुक्त होता है। इस प्रकार की विद्या जिसने प्राप्त की है वह ऐसे शब्दों का प्रयोग करे तो आश्चर्य नहीं है। अच्छे कुल में जन्म लेने के बावजूद खराब शिक्षा मिली तो खराब व्यवहार ही करते हैं। जैसे वर्तमान काल में जो अंग्रेजी पढ़े होते हैं वे लोग सामान्य बात करेंगे तो उसमें भी 'ओ शिट' कहने में उन्हें थोड़ी भी शर्म नहीं आती। इस प्रकार जन्म और विद्या दोनों का असर आता है। विद्या का मतलब केवल कक्षा में बैठकर सीखना ही नहीं है। निरंतर हम पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि वातावरण से जो शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं वह सभी विद्या है। अनेक घरों में बच्चों को पलते समय माता-पिता का वातावरण न मिलकर

नौकर-चाकरों का ही वातावरण नसीब होता है। नौकरों की जो आपसी बातचीत होगी उसी के अनुसार बच्चे भी बातचीत करेंगे। एक बहुत अच्छे घर का छः साल का बच्चा था। एक दिन रस्ते चलते उसने थूक दिया। हमने कहा 'अरे! ऐसे रस्ते में नहीं थूकते'। वह बोला 'गरीब आदमी सड़क पर थूकते हैं। बड़े आदमी जेबों में थूकते हैं'। अर्थात् वे अपना कफ आदि रूमाल में डालकर जेब में ही रख लेते हैं। मतलब उसका था कि जेब में डालना, बाहर थूकने से भी ज्यादा खराब है। हमने उससे पूछा 'यह तुमको किसने बताया?' तो उसने कहा कि अमुक नौकर ने बताया। प्राचीन काल में तो विभिन्न जातियों के मुहल्ले भी अलग होते थे। ब्रह्मपुरी में ब्राह्मण रहते थे, सोनारपुरा में सुनार रहते थे। बच्चे अपने ही समुदाय के बच्चों के साथ खेलते थे, उसी जाति के लोगों से मेल-जोल होता था जिससे उनके संस्कार अपनी जाति के अनुरूप रहते थे। अब इस प्रकार की व्यवस्था है नहीं, सभी वर्णों वाले, ईसाई, मुसलमान तक एक मुहल्ले में, और बहुधा तो एक ही मकान में रहते हैं। बच्चे शुरू से विभिन्न विपरीत संस्कार पाते रहते हैं जिसके फलस्वरूप अपने कुल आदि की मर्यादाओं के अनुरूप वे शिक्षित नहीं हो पाते। विद्या का मतलब मात्र विद्यालय में शिक्षा ग्रहण करना ही नहीं अपितु हम निरंतर वातावरण से जो ग्रहण करते हैं वह भी विद्या है। टेलीविज़न, रेडियो, अखबार, पत्रिकाओं द्वारा भी विद्या ही ग्रहण की जा रही हैं। अच्छी प्रसूति का हो पर विद्या निकृष्ट हो तो व्यवहार खराब हो जाएगा, और नीच प्रसूति का होने पर भी वातावरण अच्छा हो तो सद्व्यवहार के स्वभाव को भी प्राप्त कर सकता है। इसका परम उदाहरण है नारद महर्षि। वे एक शूद्रा दासी के पुत्र थे, जो ऋषि मुनियों के बर्तन साफ किया करती थी। वातावरण नारद को ऐसा मिला कि दासीपुत्र होकर भी वे देवर्षि अवस्था को प्राप्त कर गये। विद्या के द्वारा नीच प्रसूति को भी जीता जा सकता है और विद्या के अभाव में श्रेष्ठ प्रसूति का ह्रास भी हो जाता है।

'अभिनिवेश' अर्थात् जिस के प्रति हमें यह आग्रह होता है 'यही ठीक है, यही अच्छा है'। उस बात की गलती चाहे जितनी समझा दी जाये, फिर भी उसी की अच्छाई की ज़िद करना अभिनिवेश है। सैकड़ों युक्तियाँ बता रही हैं कि संसार के पदार्थों की सत्यता विचार से सिद्ध होती नहीं, सब पदार्थ अनित्य हैं, फिर भी लोग कहते हैं 'महाराज, बात तो आप ठीक कहते हैं पर आखिर दुनिया में व्यवहार करना ही है'; अर्थात् उन्हें दृढ आग्रह है कि व्यवहार तो गलत करेंगे ही। इस प्रकार जो आग्रही होते हैं, वे उस अभिनिवेश के कारण गलत काम करेंगे ही। वर्तमान में घूसखोरी का अभिनिवेश कायम हो चुका है, अच्छे-अच्छे लोग कहेंगे–'महाराज, घूस लिए बिना काम नहीं चल सकता है, यह तो हमारे जीवन का अंग हो गया है।' इसी प्रकार से कहते हैं कि झूठ तो बोलना ही है। पूछते हैं 'महाराज, कोई टेलीफोन पर पूछे कि 'देवदत्त घर पर है?' और अगर उससे बात नहीं करनी है तो क्या 'देवदत्त घर पर नहीं है' यह कहना भी झूठ है?' अर्थात् इतना ज्यादा अभिनिवेश है उनको कि सफदे झूठ को भी झूठ नहीं है कहना चाहते हैं।

प्रसूति और विद्या की तरह ही कर्म है। शास्त्रीय कर्म वाले का जितना आग्रह होता है शास्त्रीय कर्मों में, अशास्त्रीय लोगों का उतना ही ज्यादा आग्रह होता है अशास्त्रीय कर्म करने में। शास्त्रीय कर्म वाले से बुखार में भी बिना नहाये नहीं रहा जाता, ब्राह्म मुहूर्त में जग ही जाता है। अशास्त्रीय कर्म वालों की सबेरे चार बजे नींद उखड़ जाये फिर भी करवट बदलते रहेंगे, उठेंगे नहीं क्योंकि वे देर से उठने को ही ठीक मानते हैं। इस प्रकार प्रसूति पूर्वजन्म के कर्म, और जो विद्या प्राप्त हुई इन सबसे अलग-अलग व्यक्तित्व बनता है। हमारे जन्म-विद्या-कर्म अभिनिवेशों से दूसरों के जन्मादि सर्वथा विलक्षण हैं। अत: वे हमारी आशा के विपरीत आचरण करें तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। जैसे मैं अपने प्रसूति, विद्या, अभिनिवेश, कर्म के कारण करता हूँ,

वैसे ही वे अपने प्रसूति, विद्या, अभिनिवेश, कर्म के कारण व्यवहार करते हैं।

मूल में कहा 'अयं जनः' अर्थात् यह व्यक्ति; 'यह' की व्याख्या की 'लौकिक'। जो इस लोक से आगे भी देखता है वह अलौकिक है, वह धीरे-धीरे अपने को सुधार लेता है। क्योंकि जिन कार्यों से इहलोक में सफलता मिलती है, लौकिक जन उन्हीं का आचरण करता है। परन्तु अलौकिक जन सोचता है कि 'इससे आगे के लोकों में क्या होगा? यहाँ भले ही काम अच्छा चल जाये पर आगे इसका असर क्या होगा?' उस भावी उद्देश्य को महत्त्व देकर वह अपने को बदलने का प्रयत्न करता है। परन्तु सभी दुष्कर्म इस संसार में ही सफलता पाने के लिए होते हैं इसलिए लौकिक जन उनमें प्रवृत्त होता है। उनसे बचने के लिए मनुष्य के अन्दर 'यही लोक सर्वस्व नहीं है' ऐसा विचार आना आवश्यक होता है। इहलोक ही एकमात्र सत्य है—यह स्वीकार लेना सबसे बड़ी भूल है जो नैतिक, धार्मिक आदि प्रगति को असंभव बना देती है। एक तरफ कहते हैं 'घूस मत खाओ', दूसरी तरफ कहते हैं 'आगे किसने देखा है!' घूस लेने से जब काम बनता दीख रहा है, आगे किसी ने देखा नहीं है, तो फिर घूस क्यों न खायें? इसी प्रकार झूठ से यहाँ काम बनता दीख रहा है और कहा जाता है कि झूठ मत बोलो, तो इहलोकवादी झूठ बोलना छोड़े क्यों? कई ऐसे कायदे कानून हैं जो झूठ को प्रश्रय देते हैं। अफसर और जनता सब जानते हैं कि उन नियमों का पालन केवल झूठी कागजी कार्यवाही से हो रहा है, फिर भी उन्हें कायम रख रहे हैं तो झूठ के व्यवहार को ही बढ़ावा दे रहे हैं। लौकिक पुरुष कभी भी इन व्यवस्थाओं को बदलने की सोच ही नहीं सकते क्योंकि इहलोक में इनसे कोई नुकसान नहीं कि इन्हें बदलना आवश्यक हो। जो इस लोक से आगे की बात समझता है उसे वहाँ का फायदा समझा कर सुधारा जा सकता है। लेकिन जो मानता है कि 'जो कुछ है यहीं है' उसे सुधारना असंभव है। पूर्वजन्मों

के जो कर्म फल देने लगते हैं तदनुसार परिस्थितियाँ बनती हैं। सात्त्विक कर्म फलोन्मुख हुए तो सात्त्विक घर में जन्म होगा, सात्त्विक वातावरण मिलेगा, सात्त्विक अभिनिवेश होंगे। राजस, तामस कर्म फल देने वाले हैं तो तदनुकूल ही जन्म और वातावरण मिलेगा जिससे वैसे ही अभिनिवेश हो जायेंगे। अपने किये हुए ही कर्म का फल मिलता है। परमेश्वर हमारे किये कर्मों का फल हमें प्रदान करते हैं। बार-बार लोग यह प्रश्न करते हैं कि 'परमेश्वर ने ऐसा क्यों किया?' भगवान् ने गीता के अन्दर कहा कि कर्म करना तुम्हारा अर्थात् जीव का काम है और फल देना मेरा, ईश्वर का काम है। जैसा तुमने कर्म किया है तदनुकूल फल ईश्वर दे देता है। इसलिए संसार में जितनी भी विचित्रताएँ, भिन्नताएँ हैं, सब अपने–अपने कर्मों के द्वारा हम लोग खुद पैदा करते हैं, कोई दूसरा उन्हें पैदा नहीं करता। कैसा वातावरण मिला, कैसा अभिनिवेश हुआ? जैसे हमारे कर्म हैं। ये सब हमारे अपने ही कर्मों के अनुरूप है, कोई दूसरा नहीं करवा सकता। दस आदमियों को तुम एक बात बताओ, उनमें से एक तो उसकी गाँठ बाँधकर जीवन को बदल लेता है। एक उसको सुनकर कहता है 'बेकार की बातें हैं! ऐसे संसार नहीं चलता है।' क्या भेद है? विभिन्न अभिनिवेशों का कारण अपने–अपने पूर्व कर्म हैं। तदनुसार इस जन्म में स्वभाव का विकास हुआ और उसके अनुरूप तथ्य को स्वीकारने या नकारने की प्रवृत्ति हुई।

अपने–अपने कर्मों के कारण हर आदमी का 'लक्षण' विभिन्न है। जैसे लोक में तुम्हारे अंगूठे की छाप तुम्हारी ही रहती है, किसी दूसरे की नहीं, इसी प्रकार तुम्हारी जो प्रकृति है वह तुम्हारी ही रहेगी, किसी दूसरे की नहीं। अत: चाहे जितनी साधना की जाय, दो साधकों के अन्दर साम्य कभी नहीं हो सकता, विलक्षणता रहेगी ही। साधना रूप कर्म एक–जैसा करने पर भी जो पहले से आये कर्म और संस्कार हैं उनमें भेद अवश्य रहता है जिनसे सम्पूर्ण नतीजे में अन्तर आता है।

यह विलक्षणता कहाँ-कहाँ देखने में आती है? प्रसूति, विद्या, अभिनिवेश और कर्मों में। प्रसूति अर्थात् जन्म, जहाँ जीव ने जन्म लिया। विद्या अर्थात् विज्ञान, जो उसने अनुभव किये। विद्या का अर्थ केवल पाठशाला की पढ़ाई ही नहीं है वरन् विज्ञान अर्थात् जितने अनुभव होते हैं। अभिनिवेश का अर्थ है—पूरी तरह से किसी चीज के अन्दर युक्त होकर रहना, अर्थात् तात्पर्य, तत्परता। दुकान में बैठा हुआ दुकानदार बहुत-से काम करता है। किसी ग्राहक के लिए कहता है—'इसको चाय, समोसा आदि खिलाओ।' किसी को कहता है 'लेना हो तो लो, नहीं तो आगे चलो।' परन्तु दोनों जगह उसकी *तत्परता* किसमें है? पैसा कमाने में। जिसके खड़े रहने से फायदा नहीं बल्कि उसके कारण चार ग्राहक हाथ से निकलेंगे उसी को कहेगा 'नहीं जँचे तो आगे चलो।' व्यापारी की तरह कोई भी व्यक्ति कितना ही भिन्न कर्म करे, पर तत्परता किसी एक चीज में ही होती है। जिस निश्चित लक्ष्य की तरफ हमेशा ध्यान रहता है उसे हासिल करने की लगन को तत्परता कहते हैं, उसी में व्यक्ति परायण कहा जाता है। कई लोग ज्ञान के परायण हैं, जिज्ञासु हैं। दूसरे होते हैं जो ज्ञान नहीं चाहते पर उस ज्ञान से किसी शक्ति की प्राप्ति चाहते हैं। किसी को बता दो कि 'यह मंत्र जाप करने से यक्षिणी सिद्ध हो जाती है', तो वह व्यक्ति बड़े प्रेम से पूछेगा कि 'मंत्र लिखवा दीजिए, उसका अनुष्ठान कैसे करना है?' लगेगा तो ऐसा कि वह मंत्र का *ज्ञान* चाहता है पर वह ज्ञान नहीं वरन् यक्षिणी की सिद्धि चाहता है। मित्रों के माध्यम से लोग मंत्रियों से, अधिकारियों से परिचय प्राप्त करते हैं पर उनकी रुचि परिचय में नहीं वरन् उसके द्वारा जो कार्य कराये जा सकते हैं उनमें होती है। इस प्रकार अलग-अलग तत्परता होती है।

कर्म भी अलग-अलग हैं। बहुत-से लोग शास्त्रीय कर्मों के प्रति सद्भावना वाले होते हैं और दूसरे लोग शास्त्रीय कर्मों से कोई मतलब नहीं रखते। वे यदि शास्त्रीय कर्म करते दीखें तो भी उनका प्रयोजन

अशास्त्रीय होता है। जैसे कई लोग रुद्राक्ष की माला इसलिए पहनते हैं कि उससे रक्तचाप नियंत्रित रहे! रुद्राक्ष पहनना शास्त्रीय काम लगता है लेकिन वह व्यक्ति शास्त्र को मान रहा हो ऐसा नहीं। ऐसे ही कुछ लोग जनेऊ इसीलिए पहनते हैं कि तिजोरी की चाभी सुरक्षित रख सकें! लौकिक अशास्त्रीय उद्देश्य से किया जाने पर वह कर्म शास्त्रीय नहीं माना जा सकता। इस तरह शास्त्रीय व अशास्त्रीय भेद से कर्म दो प्रकार के हुए और यह भेद भी व्यक्तित्व में अन्तर लाता है।

जन्म, विद्या, अभिनिवेश और कर्म, इन सबसे लोग विभिन्न हैं इसमें क्या आश्चर्य है! यह संसार विचित्र है, इसमें हर व्यक्ति अलग है। अत: 'दूसरा व्यक्ति हमारे जैसा हो जाए' यह मन में आना ही गलत है। सब लोग परस्पर भिन्न हैं और भिन्न ही रहेंगे। इस बात का सबसे ज्यादा अनुभव माता-पिता को होता है। माता-पिता निरंतर चाहते हैं कि 'बच्चा मेरे जैसा होवे।' और प्राय: बच्चे माता-पिता की तरह होते नहीं हैं! जिससे माता-पिता को हमेशा आश्चर्य होता है। कई बार पूछते हैं 'महाराज! ऐसा हमने तो इन्हें कभी नहीं सिखाया, ये ऐसा कैसे कर रहे हैं?'जवाब है कि बच्चे तुम्हारे यहाँ कोरा कागज बनकर नहीं आये थे कि तुम अपने अनुसार उनपर लिख सको! वे भी अपने कर्म, संस्कार साथ लाये थे, उन्हीं के अनुसार वे तुम्हारी भी शिक्षा ग्रहण करते रहे और स्वयं विकसित हुए। तुमने जो सिखाया उसका बड़ा योगदान अवश्य है पर सिर्फ उसपर उनका व्यक्तित्व निर्भर नहीं है। इसलिए इसमें कोई विस्मय नहीं होना चाहिए कि बच्चे माँ-बाप की अपेक्षा अलग ढंग से विकसित हो गये।

अपनी प्रसूति, विद्या, अभिनिवेश, कर्मों के अनुसार ही कोई गाली आदि दे, किसी को नीचा दिखाये, अन्य भी अनुचित कार्य करे तो 'यह इसका दोष है' ऐसा चिन्तन नहीं करना चाहिए, क्योंकि अपने जन्मादि के वशीभूत होकर ही वैसा कर रहा है। इस बात को दिखाने के लिए पुराणों के अन्दर अनेक दृष्टांत आते हैं जिनमें हर घटना के प्रति किसी पूर्व जन्म की घटना को कारण बताया जाता है। अभिप्राय

है कि साधक दूसरों के व्यवहार से क्षुब्ध न हो, उनके प्रति क्रोधादि न करे, न उनसे किसी अच्छे व्यवहार की आशा रखे बल्कि 'वे अपने अनुरूप ही कर रहे हैं' ऐसा जानते हुए स्वयं साधना में ही एकाग्र बना रहे।।४।।

आगे के श्लोकों से कहते हैं कि अत्यंत प्राकृत अर्थात् सर्वथा सत्संस्कार-शून्यों के प्रति अपने मन में कभी द्रोह न लाये। पहले लौकिकों से व्यवहार के बारे में कहा था, अब अत्यन्त प्राकृतों के बारे में कहते हैं। लौकिक वे हैं जो शास्त्रीय कर्म करते हैं, भले ही अशास्त्रीय भी करें। अत्यधिक प्राकृत लोग सर्वथा अपने स्वभाव के ही अधीन रहते हैं, उनका कोई भी प्रयत्न शास्त्रीय नहीं होता। लौकिक पुरुष भी प्रकृति के अधीन रहते हैं परन्तु कुछ प्रयत्न शास्त्रीय भी करते हैं जबकि जो अत्यन्त प्राकृत होते हैं वे शास्त्र का बिल्कुल विचार नहीं करते। उन्हें शास्त्र से कोई मतलब ही नहीं होता, तदनुसार परिवर्तन की तो बात ही दूर है। वे सदा अपना फायदा ही सोचते हैं चाहे लोगों का उससे सदा अनिष्ट ही होता रहे। साधक ऐसे आसुरी भाव वालों के प्रति भी द्रोह न करे, उनके नुकसान की कोशिश न करे। वे आसुरी भाव को फैलाते रहें फिर भी उनके प्रति द्रोह क्यों न लावे—इसका उत्तर बताते हैं—

परैरत्यन्तप्राकृतेषु द्रोहं न चिन्तयेद् इत्याह। कस्मात्?

ममापि चेद् द्रोहमुपैति मानसं परेषु मय्यप्रतिरूपवर्तिषु।।
अपारसंसारपरायणात्मनां किमस्ति तेषां मम वा विशेषणम्।।५।।

ममापि मुमुक्षोरपि द्रोहं जिघांसादुःखकरणेच्छामुपैति उपगच्छति मानसं मन एव परेषु मय्यप्रतिरूपवर्तिषु प्रतिरूपमनुरूपं तद्विपरीतमननुरूपम् अप्रतिरूपमप्रतिरूपेण वर्तितुं शीलं येषां तेष्वप्रतिरूपवर्तिष्वित्यभिप्रायः। अपारसंसारपरायणात्मनां न विद्यते पारोऽस्येत्यपारः अपारश्चासौ संसारश्चेत्यपारसंसारः परमयनं परागतिः आत्मा स्वभावो येषां ते

अपारसंसारपरायणात्मानः तेषामत्यन्तप्राकृतबुद्धीनां मम वा विवेकिनो मुमुक्षोः किमस्ति विशेषणम्, अन्तरं नास्तीत्यभिप्रायः। तत्तुल्यो भवामीति तेषु मोहबुद्धिर्न कार्या।।५।।

मुझसे प्रतिकूल व्यवहार करने वाले परायों के प्रति यदि मेरा मन द्रोह करे तो अनंत संसार को ही परा गति मानने वाले उन परायों से मुझ मुमुक्षुमें क्या फ़र्क रह जायेगा!

साधक के भी मन में अत्यन्त अपकारियों के प्रति अवश्य आ जाता है कि 'ये आसुरी भाव को फैलाने वाले हैं, इनका नुकसान हो जाए क्योंकि इनके क्षीण होने से सात्त्विक लोगों का प्रतिबन्धक दूर होगा।' जो दृढ सात्त्विक भाव वाले हैं वे तो चाहे कितने भी प्रतिबन्धक हों सात्त्विक ही रहते हैं। परन्तु कुछ लोग ऐसे होते हैं जो सामान्यतया सात्त्विक रहने पर भी प्रतिबंधकों को सहन नहीं कर पाते, वातावरण आदि से प्रभावित होकर राजस या तामस प्रवृत्ति कर लेते हैं। जब आसुरी प्रवृत्ति वालों का प्रभाव कम हो जाता है तब वे लोग सात्त्विक कार्य करने में रुकावट का अनुभव नहीं करते। इसलिए आसुर प्रवृत्ति वालों के नुकसान की इच्छा हो जाती है। किंतु उस इच्छा को भी उखाड़ फैंकना साधक का कर्तव्य है। आत्मा के विचार में लगा रहता हुआ जो मैं, उसमें भी किसी के प्रति द्रोह आये तो मैं प्राकृतों जैसा ही निकृष्ट रह गया! द्रोह का बीज क्या है? अनात्मा में होने वाली घटनाएँ। राजस, तामस आदि सारा व्यवहार अनात्मा में ही है। उसी को देखकर द्रोह आता है। आत्मा में परायण, आत्मा को उद्देश्य कर सारे कर्म करने वाले के भी मानस में कभी-कभी द्रोह आता है। किनके प्रति द्रोह आता है? जो मेरी तरह आत्ममार्ग के पथिक हैं उनके प्रति तो मेरे मन में द्रोह आने की संभावना नहीं है। परन्तु जो दूसरे अर्थात् अनात्म मार्ग के पथिक हैं उनके विरुद्ध द्रोह का भाव आ सकता है। वे मुझसे दूसरे हैं और अप्रतिरूप हैं अर्थात् मेरे अनुरूप नहीं हैं।

मैं आत्मा की तरफ चलने वाला हूँ जबकि वे वैसे नहीं हैं वरन् उससे भिन्न, संसार मार्ग में ही चलने वाले हैं, उनका स्वभाव केवल इहलोक के ऊपर ही केन्द्रित है। वे कैसे हैं? 'अपारसंसारपरायणात्मनाम्'। जन्म-मरण का प्रवाहरूप यह संसार अपार है, इसकी कोई सीमा नहीं है। इहलोक में रहते हुए भी एक विषय से दूसरे विषय में जो संसरण होता है, वह भी अपार है क्योंकि उस संसरण के जो विषय अनात्म पदार्थ हैं वे अपार हैं। संसार के पदार्थों की कभी सीमा नहीं होती। पूर्व युगों में भी ऐसा कहा ही गया है परन्तु वर्तमान युग में तो यह बिल्कुल स्पष्ट है। इतने नये-नये पदार्थ सामने आते हैं कि कोई चाहे कि सब पदार्थों को एकत्र कर एक जगह बैठे तो जब तक उन्हें प्राप्त करता है तब तक दूसरे असंख्य पदार्थ आ जाते हैं! कम्प्यूटर के बारे में कहते हैं कि छः महीनों मे अगला संस्करण तैयार हो जाता है। इसी से पता लगता है कि यह संसार अपार है। दूरभाष, टेलिफोन जैसी वस्तु का देखते-देखते इतना परिवर्तन और फैलाव हो गया है कि उस एक उदाहरण से ही विषयों की अपार विविधता स्पष्ट हो जाती है। नये-नये विषय आते रहेंगे, उन्हीं की तरफ ध्यान रहेगा तो आत्मा का चिन्तन कैसे होगा! यह अपार संसार ही जिनका परायण है, परम धर्म है, वे इसे ही सोचते हैं, यही उनका स्वभाव है, स्वरूप है, वे द्रोह करें यह उनके लिए स्वाभाविक है। असूया, निन्दा करें तो उनके लिए स्वाभाविक है। किन्तु अनात्मज्ञ पुरुष जैसे आत्मज्ञ के प्रति द्रोह करते हैं उसी प्रकार यदि आत्मज्ञ अनात्मज्ञ के प्रति द्रोह करें तो आत्मज्ञ की क्या विशेषता है! अनात्मा की तरफ जाने वाले आत्मा की तरफ जाने वालों के प्रति द्रोह करते हैं। उन्हें लगता है कि 'ये संसार की उन्नति में क्यों नहीं लगते?' अनात्मज्ञों को लगता है कि आत्मज्ञ अनात्म पदार्थों के चिन्तन में बाधक हैं, बाह्य उन्नति में सहायक क्यों नहीं होते? यही भाव द्रोह का कारण है। अनात्मज्ञ आत्मज्ञों के प्रति इसलिए द्रोह करता है कि वे अनात्मा की उन्नति क्यों नहीं करते। यदि मैं आत्मज्ञ होकर

अनात्मज्ञों से द्रोह करूँ कि वे क्यों आत्मज्ञों के रास्ते में बाधा बनते हैं, तब तो जैसा उन्होंने किया वैसा मेंने कर दिया। उनके जैसा व्यवहार करने में मेरी विशेषता क्या रहेगी?

मैं मोक्ष को चाहने वाला अर्थात् परमात्मा को प्राप्त कराने वाले ज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा वाला हूँ। परमात्मा के ज्ञान को प्राप्त करने के पश्चात् ही मोक्ष संभव है। यदि ज्ञान के अतिरिक्त और कोई मोक्ष का कारण होता तो कभी भी मोक्ष नित्य नहीं होता। क्योंकि किसी चीज़ को हटाकर जब नई चीज़ लायी जाती है तो वह नयी चीज़ जितने प्रयत्न से लायी गयी है उतना प्रयत्न करके ही रह सकती है। यह निश्चित नियम है कि जो चीज पैदा होती है वह निश्चित ही नष्ट होती है। इसलिए मोक्ष पैदा हो तो नष्ट भी अवश्य होगा, फिर उसे नित्य कैसे कह सकेंगे? वह मोक्ष तो बन्धन से अल्पावधि की छुट्टी–सा होगा। सरकार का ऐसा नियम है कि जो कैदी जेल में नियमबद्ध होकर अच्छे ढंग से रहते हैं उनको एक महीने के लिए छोड़ दिया जाता है। जैसे ही वह अवधि समाप्त होती है वैसे ही जेल में जाकर हाजिरी देनी पड़ती है। अगर उस महीने उसका व्यवहार अच्छा रहा तो फिर एक महीने के लिए और छुट्टी मिल सकती है। परन्तु यह जेल से छूटना नहीं है। वैसे ही तुमने कुछ सत्कार्य किये अतः तुम जन्म–मरण के प्रवाह से थोड़े समय के लिए बाहर गये। जैसे ही वह अवधि समाप्त हुई वैसे ही तुम्हें पुनः संसरण में आना पड़ा तो वह मोक्ष नहीं हुआ। सत्कर्म और विशिष्ट उपासनाओं के पुण्य से अतिदीर्घकाल तक दिव्य लोकों में निवास मिलता है लेकिन जैसे ही वह पुण्य खत्म हुआ, भगवान् कहते हैं–'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' वैसे ही मर्त्यलोक में लौट आना पड़ता है। यह मर्त्यलोक से छूटना नहीं है। अतः नित्य मोक्ष तभी संभव है जब वह केवल ज्ञानप्रयुक्त हो, अन्य किसी साधन से मिलने वाला मोक्ष तो केवल लोकांतरगमन ही रह जाता है। लोकांतर को देश और काल दोनों दृष्टियों से समझ

सकते हैं। लोक का अर्थ होता है जो तुम्हें दीखता है, दिखाई देता है। यहाँ से तुम दूसरे देश में चले गये—वैकुण्ठ, भुवः में चले गये, यह देशान्तर है। इसी तरह से तुमने समाधि का अभ्यास किया। जितनी देर तुम समाधि का अनुभव कर रहे हो, समाधि तुम्हें लौक रही है, दीख रही है, तुम्हारे अनुभव में आ रही है, उतनी देर तक संसार तुम्हारे अनुभव में नहीं है। जैसे वहाँ देशान्तर से आते हैं वैसे ही समाधि से वापस जाग्रत् में, व्युत्थान दशा में लौटने पर यह संसार वैसे ही लौकता है, अनुभव में आता है। यह काल की दृष्टि से लोकान्तर गमन है। चाहे यह जाना देशांतर में हो या कालांतर में, हर हालत में यह मोक्ष नहीं है।

वेद कहता है कि तुम नित्य, बुद्ध, मुक्त, शुद्ध स्वरूप हो। तुम्हारा स्वरूप ही मुक्त है अतः तुम बँधे हुए नहीं हो। जिस समय तुम अपने को बद्ध समझ रहे हो उस समय भी तुम मुक्त हो। तुम्हारा अपने को बद्ध समझना वैसा ही है जैसा किसी का भांग के नशे में खुद को राजा समझना। नशे में स्वयं को राजा समझने मात्र से कोई ब्राह्मण राजा हो नहीं जाता। जैसे ही भांग का नशा उतरता है वैसे ही वह ब्राह्मण ही रह जाता है। इसी प्रकार तुम मुक्त हो। मुक्त होते हुए तुमने अज्ञान का नशा ले रखा है। उस नशे के प्रभाव से तुम अपने को बद्ध समझ रहे हो। जैसे वेदपाठी ब्राह्मण स्वभाव से सत्त्वगुणी होने पर भी अपने को महारजोगुणी राजा समझते हुए यह नहीं मानता कि 'मैं हीन हो गया' बल्कि नशे में यह सोचता है कि 'क्या होगा ब्राह्मण होकर? राजा बने रहना ही अच्छा है'। इसी प्रकार बहुत-से लोग यही सोचते हैं कि बिना शक्ति के निर्गुण ब्रह्म क्या कर सकता है? ऐसे ब्रह्म का क्या फायदा! कई गाँवों में चिलम फूँकने वाले को ही महात्मा मानते हैं। अगर चिलमी न हो तो चाहे जितना शम दमादि-सम्पन्न हो, विद्वान् हो, उसे वे महात्मा ही नहीं मान पाते। इसी प्रकार संसार में जितना काम किया जाये वह चिलम की लपट की तरह है। जो

नशेबाज हैं वे यही देखते हैं कि मुमुक्षु से संसार में कितना काम हुआ। जो विचारशील हैं वे जानते हैं कि यह कोई सिद्धि नहीं है। असली विशेषता है कि अपने को केवल आत्मस्वरूप से स्थित रखते हुए और कोई भी कार्य न करें। जहाँ प्रवृत्ति होगी वहाँ कोई–न–कोई मायिक कार्य ही होगा। इसलिए आत्मज्ञान से मोक्ष होगा तभी आत्मा नित्यमुक्त होगा; मुक्त हम स्वभाव से हैं, ज्ञान होने से हम मुक्त होते नहीं हैं। हम तो नित्य–मुक्त स्वभाव वाले हैं। ज्ञान होने से केवल वह मोक्ष प्रकट हो जाता है, पैदा नहीं होता है।

मैं मुमुक्षु हूँ, मोक्ष की इच्छावाला हूँ अर्थात् जो नित्य–मुक्त स्वरूप है उसकी अविद्या को हटाने मात्र में प्रवृत्त हूँ। अगर मेरे में भी द्रोह आयेगा तो मैं इस कार्य में विफल हो जाऊँगा। द्रोह का अर्थ किया–'जिघांसा'। दूसरे की हिंसा करने की इच्छा। बहुत–से लोग बड़े क्षमाशील होते हैं। उनकी कोई हानि हो तो भी कहते हैं 'जाने दो, भगवान् सब देखते हैं'। मन में क्या इच्छा है? मेरी हानि करने वाले को भगवान् कोई दुःख दे तो अच्छा है! यह क्षमा नहीं वरन् मानसिक द्रोह है। 'मैं वाणी और शरीर दोनों से ही कुछ नहीं करता पर भगवान् देखेंगे अर्थात् भगवान् नुकसान पहुँचायेंगे'–यह भी जिघांसा हैं। 'जिघांसा' का भी अर्थ कर दिया– 'दुःखकरणेच्छाम्'। दूसरे को दुःख हो ऐसी इच्छा। यदि मुझ मुमुक्षु में भी यह मन का द्रोह आता है तो मेरे लिए विघ्न ही है। द्रोह होता उन्हीं के प्रति है जो हमसे ऐसा बर्त्ताव करें जिसे हम अनुकूल न अनुभव करें। साधक जैसा चाहता है वैसा ही व्यवहार जो करेगा वह व्यक्ति साधक के अनुरूप ही होगा, जैसा साधक का रूप अर्थात् स्वभाव है वैसे रूप वाला होगा अतः उसके प्रति द्रोह की वृत्ति उठेगी ही नहीं। जो साधक के रूप के विपरीत रूप वाले होंगे उन्हीं के प्रति मनमें द्रोह आ सकता है। क्षमा इत्यादि साधक का स्वरूप, स्वभाव है, जबकि उसके विपरीत स्वभाव वालों का स्वभाव होता है कि जो उनकी हानि करे उसे दण्ड देना। जो अपनी हानि न

भी करे उसका भी नुकसान करना भी कुछ दुष्टों का स्वभाव होता है। जब सत्त्वगुणी वृत्ति होती है तब ज्ञान होता है। जब रजोगुणी वृत्ति होती है, तब लोभ होता है। 'मैं इसका काम क्यों करूँ? मैं मेहनत करूँगा तो मुझे कुछ तो मिलना चाहिए'—यह भाव रजोगुण से आता है। ऐसा व्यक्ति बिना लाभ के किसी के लिए कोई काम नहीं करता है। इसके आगे तमोगुणी होता है जो कहता है कि ऐसा कुछ कर दूँ कि दूसरों का काम कभी न होवे! जो मेरे अनुरूप नहीं हैं वे स्पष्ट ही सात्त्विक न होकर राजस या तामस हैं। मेरे बर्ताव की अपेक्षा भिन्न रूप से बर्ताव करना उनका शील है। दूसरे को दुःखी करना ही इनका स्वभाव है। ये किसी कारण से दूसरे को दुःखी नहीं करते।

'अपारसंसारपरायणात्मनाम्'। जिसका कोई पार नहीं है ऐसा अपार यह संसार जन्म-मरण के प्रवाहरूप में चलता रहता है, खत्म नहीं होता है। इसी प्रकार संसार के विषयों में संसरण की कोई सीमा नहीं है। यह अपार भी है और निरन्तर इसके अन्दर बदलाव होता रहता है, संसरण होता है। अयन अर्थात् गति। जैसे सूर्य उत्तर में जाता है तो उत्तरायण कहते हैं, दक्षिण में जाता है तो दक्षिणायन कहते हैं। यह अपार संसार ही जिनकी परम गति है, इस संसार से बाहर, इस संसार से भिन्न परमात्मा का जिन्हें विचार ही नहीं है वे संसार-परायण कहे जाते हैं। पहले पूछते थे 'अमन चैन है कि नहीं?' अर्थात् अमन मन-रहित अवस्था वाला जो चैन है वह तुम्हें है या नहीं? आजकल कोई नहीं पूछता अमन-चैन के बारे में। अब पूछते हैं 'क्या राजी-खुशी हो?' राजी अर्थात् क्या रजोगुण में लगे हो? और रजोगुण से तुम्हें विषय, चीजें प्राप्त हो रही हैं कि नहीं? जिसके लिए प्रवृत्ति करो वह चीज तुम्हें मिल जाये तो खुश हो जाते हो। बहिर्मुखी लोग तो संसार में जो मिल जाये, बस उसी को फायदा मानते हैं। सांसारिक सब काम मन के अनुकूल हो जाएँ तो समझते हैं कि बस, और क्या चाहिए? आत्मा की तरफ जाने वालों का विचार ठीक उलटा है कि मन के

अनुसार न होवे। आत्मप्राप्ति का जो पथिक है, मुमुक्षु है, वह चाहता है कि 'मेरे मन की बात न होवे, परमात्मा जो चाहता है सब वही होवे।' 'मैं जो चाहता हूँ वही परमात्मा करे'— ऐसा तो अनात्ममार्गी चाहते हैं। आत्ममार्गी प्रार्थना करता है कि 'मेरे मन की मत करो, मैं बालक नादान।' मुझे तो पता ही नहीं मेरे मन की क्या इच्छा है!

अनादिकाल से यही हो रहा है। हम अपने मन की करते हैं, परिणाम उसका दु:खदायी होता है। इच्छा करते हैं, वह पूरी होती है, फिर दु:ख होता है। इससे बचने का तरीका तो यही है कि मेरे मन के अनुसार न होवे, जो उचित है वह होवे। जो साधक है वह अपने को नादान बालक समझता है। संसारी कहते हैं कि हमको पता है कि हमारे लिए क्या ठीक है। ऐसे लोग अत्यन्त प्राकृत बुद्धिवाले अर्थात् शास्त्रादि संस्कारों से प्रेरणा न लेने वाले होते हैं। जबकि मैं मोक्ष की इच्छा वाला होने से विवेकी हूँ अर्थात् मैं प्राकृत बुद्धिवाला नहीं हूँ। मैं अभी आत्मज्ञानी नहीं हुआ हूँ, परन्तु प्राकृत बुद्धिमात्र वाला नहीं हूँ, शास्त्र से प्रेरणा पाकर साधना कर रहा हूँ। अच्छा तो मुझे अभी भी संसार लगता है, प्राकृत बुद्धि अभी पूरी गयी नहीं है, लेकिन कोशिश करता हूँ उसे निर्वीर्य करने की। जैसे मधुमेह के मरीज को मिठाई खाने की मनाही होती है पर अगर रसगुल्ला मिल जाए तो खाने का मन तो करता ही है, खाने में मजा आता है, पर खाता नहीं है। यही विवेकी साधक की दशा है। मीठी चीज खाने की इच्छा ही उत्पन्न न हो— यह तो तब होगा जब हम डाक्टर हो जायेंगे, क्योंकि तब हमें उसकी हानिकारकता का निश्चित पता लग जाएगा। इसी प्रकार प्राकृत बुद्धि के अनुसार द्रोह आदि भाव आते हैं पर इन्हें गलत जानने के कारण उनके अनुसार आचरण नहीं करूँगा, यह विवेक मेरे अन्दर है। केवल विवेकी तो कोई भी हो सकता है अत: स्पष्ट कर दिया—मुमुक्षु, मोक्ष की इच्छावाला विवेकी द्रोहादि से अवश्य विरत हो। अगर साधक में भी प्राकृत जैसा ही स्वभाव आ गया तो दोनों में भेद

क्या रह गया! मन की द्रोह की अवस्था मोह की, अज्ञान की अवस्था है। इसलिए इससे साधक को दूर रहना चाहिए।।५।।

अत्यन्त प्राकृत लोगों के लिए भी मन में द्रोह नहीं आना चाहिए अर्थात् 'इनका अपकार होवे' यह मन में भी नहीं आना चाहिए। मात्र इतना ही नहीं, उनके ऊपर दया करनी चाहिए, कृपा करनी चाहिए। उनके नुकसान की तो सोचनी भी नहीं चाहिए, अत्यधिक दया ही करनी चाहिए। उसी को बताते हैं–

न केवलम्मय्यप्रतिरूपवर्तिनो द्रोहाकरणमात्रं युक्तम् कृपा चात्यधिका युक्ता तेष्वित्याह–

अहो नु कष्टं यदिमे तपस्विनो रजस्तमोभ्यां विवशा विचेष्टिताः।
हितेषु मूढा इति चेन्न मे कृपा द्विषत्सु धिङ्मामयथार्थवेदिनम्।।६।।

अहो नु कष्टं वर्तते किं तद्? यद्यत इमे मदाक्रोशपरिभवादिपरास्तपस्विनः दुःखिनो वराकाः रजस्तमोभ्यां रजश्च तमश्च रजस्तमसी ताभ्यां रजस्तमोभ्यां आसुरगुणाभ्यां विवशाः परवशाः विचेष्टिताः रजस्तमोभ्यां वशीकृता इत्यर्थः। न केवलमिदमेवेदं चान्यत् कष्टं हितेषु मूढाः। विवेकबुद्धौ सत्यां परपरिभवाक्रोशादौ प्रवृत्तिःस्यादित्यत इति चेत् एवं चेन्न मम कृपा कारुण्यं स्याद्यदा तदाऽयथार्थदर्शी द्विषत्सु किं मां धिगस्त्वयथार्थवेदिनं अयथार्थदर्शिनम्।।६।।

अरे! यह तो बड़े कष्ट की बात है कि रज व तम के वशीभूत हुए ये लोग विपरीत चेष्टाएँ कर रहे हैं, अपना हित भी सही समझ न पाकर कष्ट पा रहे हैं। मैं सत्यवेत्ता यदि इन पर कृपा न करूँ तो मुझे धिक्कार है।

कष्ट की बात है कि संसारी लोग बेचारे तपस्वी हैं। संसारी लोग अत्यन्त तपस्वी हैं। तीन घंटे तक एक आसन पर बैठने वाले को बड़ा सिद्ध माना जाता है। संसारी सवेरे सात बजे गद्दी पर बैठते हैं तो एक

बजे तक लघुशंका करने को भी नहीं उठते। गरम भोजन आकर ठण्डा हो जाता है पर तीन बजे जब ग्राहक जाता है तब वह ठण्डा भोजन करते हैं। निद्रा को जीतना बड़ा कठिन है पर रोकड़ मिलाने में आधी रात तक भी जगते रहते हैं। पन्द्रह दिनों में एक बार जो एकादशी को दिन–रात जागरण करता है उसे बड़ा तपस्वी माना जाता है जबकि सांसारी का ऐसा प्राय: रोज़ जागरण होता रहता है। ग्रहण के मौके पर बिना खाये–पिये जप करना तप है, लौकिकों का यह तप भी काम–धन्धे के कारण होता ही रहता है। भले ही उनकी तपस्या स्वार्थसिद्धि के लिए हो पर है तपस्या ही, क्योंकि प्रसिद्ध तपस्या भी विभिन्न सिद्धियाँ अथवा पुण्य देकर स्वार्थ सिद्ध करती ही है। संसार के लोगों को अध्यात्मसाधकों से कम तपस्या नहीं करनी पड़ती।

किन्तु वे किस प्रकार के तपस्वी हैं? जंगल में तपस्या करने वाले भी अनेक प्रकार के होते हैं। प्राय: देखा जाता है कि तपस्वी लोगों में क्रोध अधिक होता है। पुराणों में वर्णन आता है कि घोर तपस्या का अभ्यास करते हुए बहुत क्रोध आता है, झट शाप दे देते हैं। चार हजार सालों की तपस्या को झट खत्म कर देते हैं। लौकिक तपस्वी हों या साधक, यदि रजोगुण–तमोगुण के विवश हैं तभी यों तपस्या को व्यर्थ खोते हैं। जो साधक तपस्वी शाप देते हैं वे पछताते हैं कि 'क्यों शाप दिया, मेरी तपस्या नष्ट हो गई'। इसका मतलब है कि वे उस समय विवश थे। वे सत्त्वगुणी नहीं हैं। सत्त्वगुण वाले तपस्वी तो विचाररूप तप करेंगे। मन और इन्द्रियों को सदैव सच्चिदानन्द के विचार में प्रवृत्त करना—यही तप है। सबसे बड़ा धर्म यही है कि श्रवण, मनन, योग के द्वारा आत्मा का दर्शन करें। सत्त्वगुणी की तो ऐसी तपस्या है। रजोगुणी और तमोगुणी की तपस्या भिन्न है। रजोगुणी और तमोगुणी लोग विवेक में समर्थ नहीं हैं। 'सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्'–सत्त्व से ज्ञान उत्पन्न होता है, रज या तम से ज्ञान नहीं होता। संसारी लोग रजोगुण से प्रवृत्त होकर तपस्या करते हैं। वे हमेशा सोचते हैं 'कैसे हमारा धन

बढ़ता जाये'। वस्तुत: धन का मतलब आटा, दाल, चावल आदि पदार्थ होता है। इनकी एक सीमा होती है। उतने पदार्थ एकत्र हो जायें तो मनुष्य की इच्छा कम हो जाती है। पर यह जो 'मुद्रा राक्षस' है, नोटरूप धन है, इसकी भूख कभी खत्म नहीं होती। चाहे जितने धनवान् हो जाओ, कभी नहीं लगता कि और धन न मिले बल्कि अयोग्य ढंग से भी धन बटोरने से पीछे नहीं हटते। जैसे धन के मोह में वैसे ही बच्चों के मोह से भी माता-पिता तपस्या करते रहते हैं। तमोगुण के कारण मोह और प्रमाद होता है। संसारी लोग या रजोगुण के कारण या तमोगुण के कारण, उनसे विवश होकर इतना कष्ट सहते हैं। शास्त्रीय तप में भी इसी तरह विषयों, शक्तियों के मोह से प्रवृत्त होते हैं तभी मौके पर शाप आदि देकर तप से भ्रष्ट भी होते हैं। रजोगुण और तमोगुण के कारण जो चेष्टायें, उद्यम, प्रयत्न आदि हैं वे सभी विचेष्टा कही जाती हैं।

जैसे छोटा बालक नहीं समझता कि चाकू हाथ में लेने से उसका हाथ कटेगा वैसे ही मूढ लोग अपने हित-अहित को नहीं पहचानते। अत: जैसे बच्चा अपना हाथ काट ले तो बड़ों को उस पर दया ही आती है वैसे विवेकी भी अविवेकी पर दया ही करें यह उचित है। दुर्गुणों से विवश होकर जो विवेकी से द्वेषकर स्वयं अपनी ही हानि कर रहा है उस पर यदि विवेकी को दया न आये तो विवेकी ही धिक्कार का पात्र है। इसलिए करुणा को भगवान् ने आत्मज्ञानी के लक्षणों में गिना है। जब मूढ मेरा नुकसान करते हैं तब मुझमें करुणा जाग्रत् होती है, अगर नहीं होती तो मैं धिक्कार के योग्य होता। यथार्थ बात यही है कि वे मूर्ख होने से, परवश होने से दया के पात्र हैं। मैं यदि समझ लेता हूँ कि 'वे स्वतन्त्र होकर, समझबूझ कर मेरा नुकसान कर रहे हैं' तभी मुझे क्रोध आता है। इसलिए तब मैं अयथार्थ-वेदी हूँ, जैसी चीज है वैसा उसको नहीं जानता। जबकि विवेकी होने से मुझे सही समझ बनाये रखनी चाहिए। संसारी लोग रज और तम—इन

दोनों के वश में हैं, अतः अत्यन्त दीन हैं फिर भी यह समझते नहीं कि दीन हैं। ये रजोगुण और तमोगुण कैसे हैं? ये असुरों के गुण हैं। रजोगुण और तमोगुण वाले आसुरी लोग हैं।

यद्यपि गीता में दैवी सम्पत् से पृथक् कर आसुरी संपत् कही है तथापि वहाँ नवमाध्याय में राक्षसी और आसुरी भेद से दो प्रकृतियाँ भी कही हैं जिनमें एक रजोगुण-प्रधान और दूसरी तमोगुणप्रधान समझनी चाहिए। रजोगुणी अपने लोभ के लिए जागरूक होते हैं और तमोगुणी दूसरे को दुःखी देखने में ज्यादा प्रवृत रहते हैं। दोनों करीब-करीब एक ही जैसे हैं पर फ़र्क भी है। रजोगुणी चाहता है कि दूसरे के दुःख से मुझे सुख मिले। दूसरे का नुकसान पचास का हो जाये और पचास मुझे मिल जाएँ। तमोगुणी दूसरे का दुःख ही चाहता है, चाहे उसे पचास न मिलें पर दूसरे के पचास नष्ट हो जायें इसी से प्रसन्न हो जाता है। ये आसुरी और राक्षसी संस्कार विवश कर देते हैं तभी लोग निजका अहित कर विवेकी के प्रतिपक्षी बनते हैं। यद्यपि कह सकते हैं कि दैवी प्रकृति वाला भी सत्त्वगुण के वशीभूत है, अतः आसुरी प्रकृति वालों के समान ही है, तथापि जैसे जिसकी आँखों में दोष है उसे ही विवश माना जाता है भले ही सही देखने वाला भी निर्भर आँखें पर ही रहता है, वैसे सत्त्व-कार्य होने से मन में सात्त्विकता स्वाभाविक समझी जाती है, रजोगुण या तमोगुण को ही दोष स्वीकारा जाता है। अतः उन्हीं की पराधीनता को विवशता कहते हैं। केवल यही बात नहीं है कि वे लोग विवश हैं, वे अपने हित के कार्यों के प्रति मूढ भी हैं।

जो हित की बात को हितरूप से जानता है वह धीरे-धीरे उसके संस्कारों को बढ़ाने में प्रवृत्त होता है। धीरे-धीरे संस्कारों से उसकी चेष्टाओं में परिवर्तन आता है। आएगा तभी जब वह मूढभाव को छोड़ेगा। केवल जबर्दस्ती किसी से अच्छा काम कराते रहो, इतने मात्र से वह उस कार्य को करने के स्वभाव वाला नहीं बन जाता, इसके लिए जरूरी है कि वह खुद मूढता, अविवेक को छोड़े। घर में बाप

सन्ध्या कराता रहता है पर जब लड़का स्वयं कमाने लगता है, पृथक् रहने लगता है तब सन्ध्या छोड़ देता है। कारण क्या है?‘ यह करना उचित है’—यह नहीं समझाया जा सका। जब तक मूढभाव है तब तक जबरदस्ती कराने से संस्कार नहीं बदलते हैं। जब औचित्य को समझ लिया जाए तब कार्य करने पर धीरे-धीरे संस्कार होते हैं। मूढ अर्थात् विवेक-बुद्धि से रहित होना।

मैं कैसा हूँ? शिवकृपा से मेरे अन्दर यह ज्ञान आया कि क्या आत्मा है, क्या अनात्मा है। इन दोनों के विवेक को मैं जानता हूँ, निश्चित रूप से मैं समझा हूँ। आत्मा की वास्तविकता का ज्ञान तो नहीं है, केवल आत्मा-अनात्मा का विवेक है। विवेक-बुद्धि होते हुए भी मैं दूसरों पर क्रोध करूँ या नीचा दिखाने का या नुकसान करने का प्रयत्न करूँ तो यह भी अत्यन्त कष्ट की बात होगी। विवेकबुद्धि होने पर भी मेरे मन में इनके प्रति द्रोह का भाव आ गया तो मुझे इनके ऊपर दया, करुणा की भावना नहीं आएगी। जिसके प्रति मन में आ जाये कि ‘इनको दण्ड मिलना चाहिए’ उनके प्रति कृपा की भावना आएगी ही नहीं—कोई जवान आ कर कोई चीज उठा लेता है तो गुस्सा आता है और उसे जेल में भेज देते हैं। कोई एक साल का बच्चा आकर कोई चीज उठा लेता है तो कोई उसको डण्डा नहीं मारता बल्कि बड़े प्यार से बच्चे पर हाथ फेरकर बोलता है ‘बेटा, खा लो’। क्यों? क्योंकि उसके ऊपर प्रेम आता है, दया आती है कि अपने घर में इसने चाकलेट नहीं खाई होगी तो यहाँ चाकलेट उठा ली। अट्ठारह साल के लड़के में और एक साल के बच्चे में फ़र्क क्या है? अट्ठारह साल वाले में विवेक-बुद्धि है कि ‘यह मेरा नहीं है। मैं इसे न उठाऊँ’। इसीलिए उसके प्रति आक्रोश, परिभव की भावना बनती है। एक साल के बच्चे में विवेक की सम्भावना नहीं है अत: उस पर दया आती है।

संसारी लोग अट्ठारह क्या अस्सी सालों के हो जायें पर विवेक बुद्धि से रहित हैं तो दया के ही पात्र हैं। जो विवेक से रहित है उससे

मैं व्यवहार करूँ उसे विवेक वाला मानकर तो मैं अयथार्थदर्शी बनूँगा। जैसी चीज है वैसा उसे न समझना–यही है अयथार्थदर्शन। सामनेवाला मूढ है और मैं उसको बुद्धिमान् समझ रहा हूँ इसलिए मैं अयथार्थदर्शी हुआ, ठीक नहीं समझ पा रहा हूँ। अतः मुझे धिक्कार है। धिक्कार मुझे है कि मैंने इनको विवेक बुद्धिवाला समझ लिया। इनको धिक्कार नहीं है कि इन्होंने मुझ पर आक्रोश किया। इस विचार से विवेकी साधक अपने से द्वेष करने वाले के प्रति द्वेष न करें बल्कि उसके प्रति करुणा भी करें। जैसे ही तुम्हारे अन्दर किसी पर दया का भाव बनता है वैसे ही उसके प्रति तुम्हारे मन में परिभव की भावना हट जाती है।। ६।।

द्विषत्सु इयमन्या प्रतिपक्षभावनोच्यते–

स्थिराः कृतज्ञा मधुरा हितैषिणः परात्मभूता यदि सर्वदेहिनः।
समानचित्ताः स्युरजन्मने सतां ध्रुवं भवेन्नातिमहानिहोद्यमः।।७।।

स्थिराः अचलाः कृतज्ञाः उपकारज्ञाः मधुराः प्रियाः हितैषिणः हितार्थिनः परमात्मभूताः परेषामात्मभूताः आत्मानमिव परान्द्रक्ष्यन्त्यहिंसका इत्यर्थः। यदि यद्येवंभूतास्सर्वदेहिनः सर्वशरीरिणः समानचित्तास्तुल्यबुद्धयः स्युर्भवेयुरजन्मने जन्माभावाय मोक्षायेत्येतत् सतां साधूनां ध्रुवमवश्यं न भवेदिति महानिह संसारे उद्यमः उत्साहः, अतश्च संसारोपरमो न स्यात्सतां, तस्मात् साधूनां मोक्षोद्यमप्रवृत्तिहेतवो न प्रतिद्वेषार्हा इत्यभिप्रायः।।७।।

यदि संसार में सारे देहधारी अचंचल बुद्धिवाले, कृतज्ञ, मीठे स्वभाववाले, हितैषी, सबसे आत्मवत् व्यवहार करने वाले तथा निष्पक्ष हों तो निश्चित है कि सज्जन मोक्ष के लिये अधिक प्रयास नहीं करेंगे!

द्वेष करने वालों के प्रति एक और प्रतिपक्षभावना बताते हैं:– विवेकी सब लोगों को कैसे स्वभाव वाला चाहता है? स्थिर, किसी भी बात के ऊपर अटल होना चाहिए। जो विवेकी होते हैं वे स्थिर रहते हैं। जिस कार्य को ठीक समझते हैं उसे छोड़ते नहीं हैं। इसलिए वे

अन्य लोगों से भी स्थिर रहने की इच्छा करते हैं। सभी तरह की स्थिरता समझ लेनी चाहिए। शरीर की स्थिरता, बैठे हैं तो स्थिर बैठना चाहिए, ऐसा नहीं कि कभी टाँग हिलायें, कभी अंगुलियाँ नचाते रहें! मन भी स्थिर रहना चाहिए। यह नहीं कि किसी से बातचीत करते हुए अकस्मात् मन कहीं और चला जाये और पूरी बात सुन ही न पाओ। विवेकी चाहता है कि लोक स्थिर बुद्धि वाले होवें अर्थात् उनके निश्चय कायम रहा करें, डावाँडोल न हों।

दूसरी अपेक्षित विशेषता है कि लोग कृतज्ञ हों। कोई अगर हमारे लिए अच्छा काम करे तो उसे हम याद रखें, यह नहीं कि हमारी किसी ने भलाई की तो उसको हम भूल जायें। आजकल तो कह देते हैं 'उसने किया तो अपने मतलब से किया होगा। कौन किसके लिए करता है!' यह कृतज्ञता नहीं है। शास्त्रों में, स्मृतियों में कहा गया है कि कृतघ्नता का पाप कभी भी मिटता नहीं है। अतः सभी को कृतज्ञ होना चाहिए। और कैसे हों? मधुर; बोली, व्यवहार आदि में मिठास होनी चाहिए। बोली ऐसी नहीं होनी चाहिए कि चाबुक की तरह पड़े। चाहे कितना ही दूसरों को सुधारने का प्रयत्न होवे पर अपनी मधुरता नहीं छोड़नी चाहिए। सभी के प्रति हितैषी भी होना चाहिए, हमेशा दूसरों का कल्याण सोचना चाहिए। 'मेरा क्या फायदा होगा' यही नहीं सोचना चाहिए, 'इसका क्या हित होगा' यह भी विचार हमेशा सामने रखना चाहिए। और कैसा होना चाहिए? दूसरों को भी अपने जैसा ही समझने वाला होना चाहिए। जैसे मुझे सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है, वैसे सभी को सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है। हर प्राणी के अन्दर जो आत्मा रहता है उस आत्मा की दृष्टि रखनी चाहिए। जो आदमी ऐसा होता है वह दूसरे के द्रोह की इच्छा नहीं करता।

'सर्वदेहिनः' यदि सारे शरीरधारी ऐसे हो ज़ायें, समान मन वाले हो जायें तो जन्म-प्रवाह से छूटना कौन चाहेगा! उक्त प्रकार के हो जायें तो सभी मोक्षमार्गी बन जायेंगे। अतः सत्पुरुषों को कोई विशेष उद्यम

मोक्ष के लिए नहीं करना पड़ेगा। और न मुक्त हुए तो भी ऐसे विवेकियों के बीच रहना कोई दु:ख न होने से सत्पुरुषों को मोक्षार्थ विशेष उद्यम की प्रेरणा नहीं मिलेगी। सत्पुरुषों का मोक्ष के लिए इतना दृढ प्रयत्न ही यह बताता है कि सब लोग ऐसे विवेकी हैं नहीं। स्वभाव से ही ऐसा विवेकवान् नहीं हुआ जाता है, अत्यन्त परिश्रम करके हुआ जा सकता है। साधारण लोग ऐसे परिश्रमी नहीं होते अत: जन्म–मरण के चक्र में घूमते रहते हैं। ऐसे सामान्य सामर्थ्य वाले लोगों से क्या विरोध करना है!

जन्म–मरण के चक्र में न पड़े इसके लिए महान् उद्यम करना पड़ता है। स्थिरता इत्यादि ही वह उद्यम है। एक बार जिस निश्चय को कर लिया, उस निश्चय से फिर कभी हटे नहीं यह स्थिरता है। प्राय: लोग हर परिस्थिति में सोचते हैं कि 'इसमें क्या करना *लाभप्रद* रहेगा'। 'इस परिस्थिति के अन्दर क्या *कर्तव्य* है' इस निर्णय को तो अचल बुद्धिवाला ही करता है, जैसे 'चाहे सब कुछ लुट जाये पर मुझे तो सत्य बोलना है'। हम लोग प्राय: अवसरवादी बन जाते हैं। अत: हमारी बुद्धि अचल नहीं होती, स्थिर नहीं होती। एक बार हमने जीवन–मूल्यों को निर्धारित कर लिया फिर सोचने की बात नहीं रहनी चाहिए। क्या कर्तव्य है—यह सदा सामने रखें, किसमें लाभ है– यह सामने न रखें। कृतज्ञ रहना भी प्रयाससाध्य है। दूसरे ने जो हमारे लिए उपकार किया उसको हमेशा हम अपने ध्यान में रखें। दूसरे ने मदद की तो थोड़े समय तक वह स्मरण रहती है, फिर उसी आदमी ने हमारे दो-तीन नुकसान कर दिये तो उसने जो उपकार किया था वह हमारे ध्यान से हट जाता है, धुँधला पड़ जाता है, जो उसने अपकार किया वही याद रह जाता है। अनेक अपकारों पर भी ध्यान न देकर एक उपकार पर ही ध्यान देना कृतज्ञका स्वभाव है। मधुरता भी विवेकी की यत्नशीलता का चिह्न है। हमेशा मीठी वाणी और दूसरों को प्रिय लगने वाला मधुर व्यवहार विवेकी का स्वभाव होता है। वे व्यवहार करते समय 'मुझे क्या प्रिय लगेगा' यह न सोचकर 'उसे क्या प्रिय

लगेगा' यह सोचते हैं। सत्य बोलने के समय भी शास्त्रकारों ने कहा है कि – 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।' सच्ची बात कहें पर इस ढंग से कहें कि सामने वाले को प्रिय लगे। और यदि हम उस सत्य को प्रिय ढंग से नहीं कह सकते तो उस सत्य को अप्रिय ढंग से भी न कहें। जैसे शास्त्र ने सत्य बोलने का विधान किया वैसे ही अप्रिय सत्य बोलने का निषेध भी किया। किसी भी व्यवहार को हम दूसरे के लिए कैसे प्रिय बना सकते हैं यह सोचकर व्यवहार करना चाहिए। आजकल तो लोग बड़े गर्व से कहते हैं 'मैं तो सच्ची बात सुना देता हूँ। किसी को अच्छा लगे या बुरा'। किन्तु यह विवेकपूर्ण उद्यमशीलता नहीं है।

इसी तरह मोक्षमार्गी हमेशा हितैषी होंगे, यही सोचेंगे कि जिससे व्यवहार कर रहे हैं उसका लाभ कैसे होगा। अभी हमारा सोचने का तरीका यह है कि हमारा लाभ कैसे होगा। सत्य के बारे में भी शास्त्र ने स्पष्ट किया है कि 'सत्यं भूतहितं प्रोक्तं न यथार्थाभिभाषणम्'। केवल यथार्थ होने से बात सत्य नहीं हो जाती, सत्य वह है जो प्राणी के कल्याण के लिए होवे। प्राणी के अकल्याण के लिए बोलना सत्य बोलना नहीं है। मान लो किसी आदमी ने तुम्हारे सामने किसी की बुराई की। जिसकी बुराई की वह तुम्हारा मित्र है तो क्या अपने मित्र से कहना कि 'उसने तुम्हारी बुराई की' सत्यवदन होगा? नहीं होगा क्योंकि वैसा कहने से वह दुर्भावनाग्रस्त हो जायेगा और वह उसके लिए हितकर नहीं हैं, उसका कल्याण नहीं करेगा। दूसरों से व्यवहार करते समय दूसरों का हित किसमें है– यह सोचना चाहिए।

जितनी विशेषताएँ कहीं इन सबका आधार क्या है? किस मूल दृष्टि के रहते ये गुण आ पाते हैं? सबका मूल है परात्मभूत होना। दूसरे के आत्मा की दृष्टिवाला ही ऐसा आचरण करेगा। आत्मदृष्टि अर्थात् दूसरों को आत्मा की तरह, अपनी तरह देखना कि जिसके साथ हम व्यवहार कर रहे हैं वह कोई दूसरा नहीं, मैं खुद ही हूँ। अपने साथ व्यवहार करने में हमारे मूल्य हमेशा अटल रहते हैं। अपने साथ

व्यवहार करने में हम कभी भी अवसरवादी नहीं बनते। हमेशा बुद्धि स्थिर रहती है। इसी प्रकार अपने प्रति हम हमेशा कृतज्ञ रहते हैं। हमारे मन ने शान्ति वाला होकर हमें आत्मज्ञान का मौका दिया तो उस मन के प्रति हम कृतज्ञ रहते हैं, हम उस मन को नष्ट करने की इच्छा नहीं करते। आत्मज्ञान के बाद जगत्प्रतीति सुख देने वाली नहीं होने पर भी, दु:ख देने वाले उस मन के प्रति भी आक्रोश, परिभव आदि की भावना, द्वेष की भावना नहीं आती। इसी प्रकार हमारा आचरण अपने प्रति मधुर होता है, प्रिय होता है। हमारे प्रति हमारा आचरण कभी भी अप्रिय नहीं होता। हमेशा हम अपना हित ही करना चाहते हैं; अज्ञान से अपना अकल्याण भले ही कर लें, परन्तु उस समय वह कार्य कल्याण वाला ही प्रतीत होता है। जैसे हम किसी को हजार रुपया देकर अपना काम करवाते हैं तो उस समय यह नहीं लगता कि 'मैं अपना नुकसान कर रहा हूँ।' जिस समय कुपथ्य करते हैं उस समय लगता है कि 'इतने में हमारा कोई नुकसान नहीं होगा'। 'मैं इस कुपथ्य को करूँ और खूब जोर से बीमार पड़ूँ'–इस भावना से कभी कुपथ्य-सेवन नहीं करते। अहित को हित समझ कर तो आचरण कर सकते हैं परन्तु उसको अहित जानकर नहीं करते। अपना अहित करने के लिए स्वयं कोई प्रयास नहीं करता। अन्य आत्मा के साथ भी अपने आत्मा के सदृश ही व्यवहार करना चाहिए।

एक कठिनाई इसमें है: प्राय: यह देखने में आता है कि जो स्वयं तपस्वी होते हैं, कष्ट सहने वाले होते हैं, वे यह सोचते हैं कि दूसरे लोग कष्ट को सहन क्यों नहीं कर सकते! किन्तु यह परात्मभूतता नहीं है। जो तपस्वी नहीं उससे कष्टसहिष्णुता की आशा करना आत्मवद्दर्शन नहीं है। अत: व्याख्याकार स्पष्ट करते हैं–'अहिंसका इत्यर्थ:।' किसी के प्रति उसके मन में हिंसा की भावना नहीं आती। भगवान् वेदव्यास ने बताया– 'आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'। अपने को जो चीज प्रतिकूल लगती है वह दूसरों के साथ न करें। जो अपने को अच्छा लगे वही दूसरों के साथ करें। तपस्वी को कष्ट

सहना अनुकूल लगता है। सहनशक्ति ज़्यादा होने से उसको थोड़े-बहुत कष्ट असह्य नहीं लगते। इसका मतलब यह नहीं कि वह दूसरों से भी कष्ट सहन करावे! तात्पर्य है कि जैसे स्वयं को असह्य कष्ट प्रतिकूल लगता है वैसे ही दूसरों को असह्य कष्ट प्रतिकूल है यह पहचानकर उन्हें वैसा कष्ट न दे। अन्य को कष्ट न देना यही अहिंसक होना है।

यदि सभी शरीरधारी समान चित्त वाले, एक-सी बुद्धि वाले हों तो मोक्षार्थ प्रयत्न करने की भी आवश्यकता नहीं रहेगी, क्योंकि सभी लोग स्वभाव से ही मुक्त हो जाएँगे! यदि संसार में सभी ऐसे हो जाएँ तो इस संसार से छूटने में कोई प्रवृत्ति, उत्साह ही नहीं रहेगा। इसलिए लोग ऐसे नहीं हैं— इससे दु:खी नहीं होना चाहिए वरन् इसे सहज स्वाभाविक स्वीकारना चाहिए। कभी शरीर रोगी होता है तो रोग-रहित शरीर की इच्छा हम करते हैं। अगर हमारा शरीर कभी रोगी हो ही नहीं तो हम रोगरहित शरीर की इच्छा करेंगे कब? रोगियों को देखकर ही तो रोगरहित होने की इच्छा होगी। इसी प्रकार लोगों को चिन्ताग्रस्त देखकर चिन्तारहित होने की इच्छा होगी। यदि तुम्हारे चारों तरफ सब निश्चिंत ही हों तो चिन्तारहितता की बात ही मन में नहीं आयेगी! अत: सब ऐसे ही हो जाएँ तो जन्म के अभाव अर्थात् मोक्ष के लिए सत्पुरुषों को अवश्य ही इच्छा नहीं होगी। जिस बुराई से हमारा फ़ायदा होता है उसे हम बुरी दृष्टि से कैसे देखें? किसी ने हमें गाली दी तो उसने हमें अवसर दिया कि हम समता-भावना का अभ्यास कर सकें। हमें किसी ने गाली दी ही नहीं तो कैसे परीक्षा होगी कि हमारा चित्त स्थिर है या नहीं? हमेशा उबला पानी पीते रहें तो पेट स्वस्थ है यह परीक्षा कैसे होगी? सामान्य पानी पीने पर भी रोग न हो तभी पेट की स्वस्थता है। जैसे शरीर वैसे ही मन यदि सभी विपरीत परिस्थितियों में स्थिर रह सके, तभी वह स्वस्थ माना जाएगा। यदि ऐसा नहीं होता, मन में विक्षेप हो जाता है, तो मन को अस्वस्थ, विवेकशीलता में अपरिपक्व मानना पड़ेगा। इस प्रकार संसारी लोग

विक्षेप देकर साधक को अपनी परीक्षा का मौका देने के कारण उसका हित ही करते हैं।

यदि ऐसा न होता तो परमात्मा की प्राप्ति के लिए जो इतना उद्यम किया जाता है, श्रवण-मनन किया जाता है, उसके लिए प्रवृत्त होते ही नहीं। अगर हम यह उद्यम न करते तो संसार का उपरम न होता। उपरमका अर्थ है संसार के प्रवर्तक कारण अज्ञान की निवृत्ति। कारण बना रहे तो कार्य कुछ समय तक छिपने पर भी समाप्त नहीं होता। योगशास्त्र तो समाधि में आत्मस्वरूप से स्थित होने को पर्याप्त मान लेता है लेकिन वेदान्त इसे स्पष्ट करता है कि वह उपलब्धि काल से सीमित है, गहरी नींद में दुःख से छूटने के समान है। जैसे सुषुप्ति में अज्ञान बचा रहने से संसरण यथावत् बना रहता है वैसे समाधि में भी अज्ञान नष्ट न हो पाने से संसरण की निवृत्ति नहीं होती, मोक्ष नहीं होता। बुद्धिमान् को प्रयास दुःखभोग से विश्राममात्र के लिए नहीं वरन् उसके उपरमण, सबीज नाश के लिए करना चाहिए। वह तभी होगा जब अपने स्वरूप की वास्तविकता का पता लगेगा कि अहंकार-पर्यन्त सभी दृश्य मिथ्या हैं, मुझ सत्य आत्मा से इनका कोई वास्तविक सम्बन्ध है ही नहीं, मैं सदा निर्विकार आनन्दघन, ज्ञानघन हूँ। तत्त्वज्ञान से अज्ञान मिट जाने पर अपनी विकारिता का भ्रम कभी नहीं होता। प्रारब्ध-पर्यन्त प्रतीति होते समय ही अपनी निर्लेपता, कूटस्थता का और दृश्यमात्र के मिथ्यात्व का स्पष्ट भान रहता है। साधु पुरुषों की मोक्ष में प्रवृत्ति का कारण यह है कि सब लोगों की मोक्ष के लिए प्रवृत्ति होती नहीं! अज्ञानमात्र से नहीं वरन् उसके दुःखरूप कार्यों से ही छूटने के लिए प्रयास होता है। सुखों से तो कोई छूटना नहीं चाहता। उन्हें इसीलिए छोड़ना पड़ता है कि उन्हें छोड़े बिना दुःखों से छूटा नहीं जाता। लेकिन अगर संसार के सब लोग विवेकी व सदाचारी हो जायें तो संसार में दुःख ही क्या रहेगा जिससे छूटन के लिए साधक प्रयत्न करे? और बिना प्रयत्न के वह संसार के जन्म-मृत्यु-प्रवाह में ही भटकता रहेगा।

अतः जो लोग अपने दुर्व्यवहार से हमें दुःख देते हैं वे धन्यवाद के पात्र हैं कि उनके उन व्यवहारों से दुःखी होकर हम संसार से छूटने के लिए तीव्रतर यत्न कर रहे हैं। ऐसे दुर्व्यवहार करने वालों के प्रति हम द्वेष करें इसके वे योग्य नहीं। वे तो हमारा कल्याण करने वाले हितैषी ही हैं।।६।।

इदमन्यदङ्कुशविशेषणमुच्यते—

अपारयन् बोधयितुं पृथग्जनानसत्प्रवृत्तेष्वपि नासदाचरेत्।
अशक्नुवन् पीतविषं चिकित्सितुं पिबेद्विषं कस्स्वयमप्यबालिशः।।८।।

अपारयन् अशक्नुवन्नित्येतत्। किमशक्नुवन्नित्याह-बोधयितुमवगमयितुं पृथगजनानसंस्तुतानविनीतानित्येतद्विनयार्थं बोध्यमाना अपि ते स्वाभाविकप्रबलप्रकरदोषवशादेवासन्मार्गप्रवृत्ता एव विदुषां परिभवादिक्रिययाऽसत्प्रवृत्तेष्वपि भूयो भूयः प्रतिकूलवर्तिषु स्वयं नासदाचरेत् प्रतिकूलयातान् प्रति तदा तदाचरणे स्वयमप्यविनीत एव तत्तुल्यः स्यात्। किमिव? यथा लोके कश्चित् पीतविषो मुमूर्षुस्तं पीतविषं चिकित्सितुं प्रवृत्तो भिषक् तस्य तां चिकित्सां कर्तुमशक्नुवन् स्वयं पिबेदनेन सह मरिष्यामीति तद्वत्। स्वयमेवाबालिशोऽमूर्खो यदहं विनीतात्मा प्रतिकूलवर्तिनः प्रियवचनादिना विनेतुमशक्नुवन्नप्रतिकूलमसदाचरेयं चिकित्सायामशक्तो विषं पिबन्निव बालिशःस्यामिति भावयेदंकुशम्।।८।।

विनयहीन लोगों को कर्त्तव्यादि समझा न सके तो स्वयम् भी असत् आचरण न करने लग जाये! कौन समझदार वैद्य विष पिये हुए का उपचार करने में असमर्थ होने पर खुद भी वह विष पी लेगा!

क्रोधरूप मदमत्त हाथी को नियन्त्रित करनेवाले विचाररूप अंकुश के प्रयोग का एक और तरीका बताते हैं—दुर्मार्गी लोगों को सन्मार्ग पर चलनेकी आवश्कयता यदि समझा न पाये तो यह मूर्खता न करे कि खुद उन जैसा आचरण करने लग जाये! जिसने जहर पी लिया उसकी चिकित्सा न कर सके तो कोई बुद्धिमान् वैद्य खुद वह विष नहीं पी लेता! एक सन्त के आश्रम में लोग काफी अनियमितता करने लगे तो

व्यवस्थापकों ने सन्त से निवेदन किया कि वे स्वयं लोगों को नियंत्रित करें। उन्होंने लोगों को समझाने की कोशिश की। व्यवस्थापकों ने कहा, 'महाराज! ये यों नहीं समझेंगे, इन्हें डाँटिये-डपटिये तभी इनपर असर होगा'। सन्त ने कहा 'भाई, अगर तुम चाहते हो कि लोगों को सुधारने के लिए मैं बिगड़ूँ, तो यह मुझसे नहीं होगा। मैं शान्ति से ही समझाने की कोशिश कर सकता हूँ, इनपर असर हो या न हो'। इसी तरह यहाँ जहर पीने का उदाहरण दिया है– किसी ने जहर पी लिया। चिकित्सक ने हर तरह का प्रयास कर लिया पर उसके जहर को उतार नहीं सका। क्या उसे यह कहोगे कि 'इसका जहर उतार नहीं सकते तो यह जहर तुम भी पी लो?' क्या कोई उस जहर को पियेगा? इसी प्रकार किसी दुर्गुण वाले को ठीक करने के लिए दुर्गुण को मैं अपने अन्दर ले लूँ–यह सर्वथा असंगत होगा। अत्यन्त गैर समझदार तो ऐसा कर सकते हैं; अविवेकी यही कहते हैं कि दूसरों को सुधारने में क्रोधादि करने में कोई हर्जा नहीं। परन्तु वे बालिश हैं अर्थात् उनकी बुद्धि विकसित नहीं है। मंद बुद्धि वाले कभी-कभी ऐसा करते हैं, उस विष के बारे में भी सोचते हैं कि चखकर देखूँ कैसा है! पर बुद्धिमान् ऐसा नहीं करेगा। जैसे हर वैद्य के पास हर विष की औषधि नहीं होती वैसे समझाने वालों की भी सामर्थ्य विभिन्न होती है। सबको सभी लोग समझा नहीं सकते। बता तो सकते हैं पर 'यही ठीक है' ऐसा तुम समझ सको इतना हृदयंगम करा पाना सबके बूते का नहीं होता। शब्दों के द्वारा क्या कहा जा रहा है– यह तो आदमी समझ लेता है परन्तु जब तक वह बात उसके हृदय में बैठती नहीं तब तक 'मुझे बोध हो गया' ऐसा निश्चय नहीं होता। जो बात कही उसके शब्द तो समझ लिए लेकिन तात्पर्य के बारे में 'यह ठीक है' ऐसा लगता नहीं। शब्दार्थमात्र का ज्ञान होने से बोध नहीं होता। जैसे हम कहें 'सूर्य ठण्डा होता है।' तुम 'सूर्य' शब्द भी जानते हो 'ठण्डा' शब्द भी जानते हो तो सूर्य ठण्डा है– यह बात समझ में आ जायेगी। पर इसका वास्तविक

अर्थ समझ में नहीं आयेगा, अर्थ हृदय में उतर नहीं सकेगा। जब समझाते हैं कि ऐसी नीहारिकाएँ हैं जिनका तापमान बहुत ज्यादा है, उनके सामने सूर्य ठण्डा है, तब बात समझ में आ जाती है कि 'ठण्डा' यहाँ तुलनात्मक दृष्टि से कहा है। कोई चीज न ठण्डी है न गरम है। किसी की तुलना में कोई ठण्डा है, किसी की तुलना में कोई गरम है। पृथ्वी के तापमान के सामने सूर्य अत्यधिक गरम है। बात कह देना सबके बूते का है लेकिन उसे समझा पाने में कोई–कोई ही समर्थ होता है।

जिसे समझाना है उसकी योग्यता का भी अन्तर आता है। धर्म समझाना उसे सबसे मुश्किल है जो 'पृथक् जन' है। जिनको कोई शिष्ट च्छा नहीं समझता उन्हें पृथग्जन कहते हैं। पृथक् अर्थात् अलग। समाज से वे अलग होते हैं अर्थात् सामान्य मान्यताओं को भी स्वीकारते नहीं हैं। जो समाज के नियमों के अनुसार चलने वाले नहीं हैं उन्हें लोक में भी समाज से, जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। वे लोग स्तुति के योग्य नहीं होते हैं। ऐसों का स्वभाव है अविनीत होना, नियमों को, नीतियों को न मानना। प्रत्येक समाज के कुछ नियम होते हैं और समाज में रहने वाले से ऐसी अपेक्षा होती है कि वह उन नियमों को स्वीकार करेगा। जो ऐसे नहीं हैं वे हैं—अविनीत। किन्तु जो रजोगुण-तमोगुण के प्रकोप से आसुरी प्रवृत्ति वाले अविनीत होते हैं उन्हें धर्म, नीति समझाने पर भी वे उसे स्वीकारने को तैयार नहीं होते वरन् उसका प्रतिरोध ही करते हैं। असुरता रहते अनेक दोष शक्तिशाली हो जाते हैं। थोड़े बहुत दोष हों तो समझाने बुझाने से व्यक्ति अपनी गलती समझ लेता है और शिष्ट-सज्जनों का मत स्वीकार कर लेता है, लेकिन दोष हों भी अधिक और प्रत्येक दोष में तीव्रता भी अधिक हो तो व्यक्ति सन्मार्ग पर चलने को तैयार ही नहीं होता, गलत मार्ग पर ही अधिकाधिक चलता है। सन्मार्ग की विशेषता है कि उसे थोड़ा भी अपनाओ तो उसके आधार पर तुम्हें दूसरे उचित गुण भी समझाये जा सकते हैं क्योंकि

जितने भी सद्गुण हैं वे एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। स्मृतियों के अन्दर कहीं चार गुणों को, कहीं दस गुणों को, कहीं बारह गुणों को प्रधान कह दिया है। जहाँ चार कहे हैं वहाँ ऐसा नहीं कि अन्यों को छोड़ दिया, वरन् उन चार में अन्यों का संग्रह कर लिया गया है।

जो किसी भी सन्मार्ग की बात को स्वीकार करते ही नहीं, उनको समझाना अशक्य हो जाता है। जो विद्वान् लोग हैं, जो ज्ञानी हैं उनको बार-बार नीचा दिखाना, कष्ट देना आदि क्रियाओं में असन्मार्गी प्रवृत्ति करते हैं क्योंकि वे इसी को ठीक समझते हैं। ऐसा होने पर भी सज्जन के लिए यह उचित नहीं कि वह उन असुरों के प्रति असत् आचार करे क्योंकि तब वह भी उन्हीं के समान हो जायेगा। एक साधु ने एक बिच्छु को बचाने के लिए उसको उठाकर रखना चाहा तो बिच्छु ने डंक मार दिया। उन्होंने फिर कोशिश की, फिर उसने डंक मार दिया। ऐसा दो-तीन बार हुआ। किसी ने कहा 'महात्मा जी, आप बार-बार इसे क्यों बचाते हैं, जब यह बार-बार आपको काटता है?' महात्मा ने जवाब दिया 'यह बिच्छु है, इसका स्वभाव है डंक मारना। मेरा स्वभाव है रक्षा करना। यह अपना स्वभाव नहीं छोड़ता तो मैं अपना स्वभाव क्यों छोडूँ?' इसी प्रकार असत्पुरुषों का आचरण देखकर भी ये ज्ञानी पुरुष कभी भी मन में नहीं लाते कि 'ऐसा आचरण मैं भी करूँ'।

यह तो अध्यात्म शास्त्र का विषय है। नीतिशास्त्र में बतलाया है कि जो अपने प्रति अधर्म करे उसके प्रति आवश्यक होने पर अधर्म से वार कर उसे खत्म कर देना चाहिए। परन्तु अध्यात्म और नीति– इन दोनों शास्त्रों के नियम अलग-अलग हैं। जब तक संसार हमें सत्य लगता है तब तक नीतिशास्त्र के अनुसार चलना चाहिए। जब सारा संसार हमारे लिए मिथ्या हो जाये तब नीति एवं धर्मशास्त्र हमारे लिए बेकार हैं। धर्म और नीति तो इस संसार में कैसे रहा जाता है– यह बताते हैं जबकि अध्यात्मशास्त्र इस संसार से कैसे निवृत्त हुआ जाता है–यह बताता है। अत: धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र अलग-अलग हैं।

आसुर प्रवृत्ति वाले ने तो असद् आचरण रूप विषपान किया जिसके फलस्वरूप वह मरणतुल्य नरकप्राप्ति के लिए उन्मुख है। हम वैद्य-स्थानीय होकर उसे समझाने पहुँचे ताकि आगे के जीवन में वह असन्मार्ग पर न चले। हम उसे न समझा पायें और स्वयं क्रोधादि कर बैठें तो हम भी असन्मार्गी होकर नरक के यात्री ही बन जायेंगे। अत: विवेकी के लिए ऐसा करना ग़लत है। जैसे कोई वैद्य कहे कि 'मैं इसका इलाज नहीं कर पाया तो लाओ वह जहर मुझे दो, मैं भी मर ही जाऊँ।' इसी प्रकार की बात होगी यदि मैं समझा नहीं पाने पर खुद भी नरक जाने की तैयारी कर लूँ। ऐसा कोई भी समझदार व्यक्ति नहीं करेगा। मैं स्वभाव से ही मूर्ख नहीं हूँ। अत: नियम के अनुसार चलना ही मेरा स्वभाव है। जैसे असुर अविनय के स्वभाव वाला है वैसे मैं विनय के स्वभाव वाला हूँ। इसलिए मैं मूर्ख नहीं हूँ। वह तो मूर्ख है इसलिए उसे समझा नहीं पा रहा। वह मेरे प्रतिकूल चलने वाला है। इसको मैंने अत्यन्त प्रियवचनों से समझाया कि नियम से चलो पर इसको विनीत बनाने में समर्थ नहीं हो पाया।

अगर सचमुच में समझाना चाहते हो तो डाँट-डपट कर नहीं अपितु प्रियवचनों से ही समझाना चाहिए। अगर फौजी अनुशासन में लाना है तो डण्डा मारो! पर उसके द्वारा कोई विनयी कभी नहीं बनेगा। अगर किसी का स्वभाव बदलना चाहते हो तो प्रेम से ही बदला जा सकता है। अत: किसी प्रतिकूलवर्ती को शिक्षित करने के लिए भी कठोर-वचन, आक्रोश आदि का सहारा नहीं लेना चाहिए क्योंकि वैसा करने से हम स्वयं अविनय का परिचय देंगे। ऐसी भावना करना ही अंकुश है। कोई बार-बार हमारे विरुद्ध आचरण करता है तो मन में आता है कि 'इसको ठीक कर दूँ'। इस मूर्खतापूर्ण भावना को रोकना ही अंकुश है।। ८।।

न केवलं तत्प्रतिक्रिया न कर्तव्या, द्रष्टव्याश्च ते उपकारिण इति। कथमुपकारित्वमित्युच्यते—

असज्जनानां चरितोपदेशनैरुपैति संसारविरागनिश्चयम्।
गुरुष्विवास्मादुपदेशतोऽर्थतः कथं प्रतिद्वेषमियात् द्विषत्स्वपि।।९।।

असज्जनानामविनीतानां चरितोपदेशनैश्चरितानि चेष्टितान्येवोपदेशनानि तैश्चरितोपदेशनैर्विद्वानुपैति प्राप्नोति। संसारविरागनिश्चयं संसरणं संसारः जन्ममरणप्रबन्धः तस्मिन् विरजनं विरागः तस्मिन् विनिश्चयं तत् संसारविरागनिश्चयं संसारविरागव्यवसायं प्रतिपद्यत इत्यर्थः। अतो ज्ञानवैराग्यकृतो गुरव इवासज्जना उपकारिणोऽर्थत उपदेशतो निमित्तादस्मात् गुरुष्विव तेषु कथं प्रतिद्वेषं द्विषत्स्वपि तेष्वियात् गच्छेत् न किञ्चिदपि तेष्वसज्जनेषु प्रतिद्वेषं कुर्यादित्यर्थः।।९।।

असत् लोगों के आचरणरूप उपदेशों से संसार से वैराग्य दृढ होता है अतः उपदेष्टा होने से अर्थसिद्ध है कि वे हमारे गुरु हैं अतः वे चाहे हमसे द्वेष करें, हम उन गुरुजनों से द्वेष कैसे कर सकते हैं!

अपने विरोधियों का प्रतिरोध न करे इतना ही नहीं, उन्हें उपकारी समझना चाहिए!–यह अतिसूक्ष्म विचार का अंकुश बताते हैं: असत् पुरुषों के आचरणरूप उपदेश से समझदार को संसार से वैराग्य और दृढ होता है अतः वे मानो गुरु ही हैं! उनका विरोध करने की सोचना भी ग़लत है। नवविवाहिता देवकी से कंस कैसी क्रूरता करने को तैयार हो गया–यह दिखाकर कंस सिखाता है कि असत् प्रवृत्ति कहाँ तक नीचे गिरा सकती है। अतः असत् प्रवृत्ति को किंचिद् भी मौका न दिया जाये। स्वार्थ इतनी बुरी चीज है–यह पढ़ने वाले को स्पष्ट हो जाता है। किसके जैसा आचरण करें? राम के जैसा आचरण करें। किसके जैसा आचरण न करें? रावण के जैसा आरचण न करें। इसलिए रावण भी अपने चरित्र के द्वारा उपदेश ही दे रहा है कि ऐसा मत करो। असत् जनों के व्यवहार से भी उपदेश होता है। उससे क्या होता है? संसार से विराग। जिस संसार में जीने के लिए अपनी प्रिय बहन की हत्या करनी पड़े या अपने समझदार भाई को वैसे ही लात मारनी पड़े

जैसे रावण ने विभीषण को मारी थी, उस संसार में रहना किस काम का! ऐसे संसार से क्या लाभ है! इस प्रकार से संसार के प्रति इन असत् पुरुषों के आचरण से वैराग्य उत्पन्न होता है। निरपराध होते हुए भी राम जैसे आदर्श पुत्र ने कैकेयी के कारण चौदह साल वनवास में बिताये; इतने उत्तम पुरुष को भी कष्ट होता है। अतः यह संसार वैराग्य के योग्य है। इस संसार में कुछ भी प्राप्त करने योग्य है नहीं—यह निश्चय हो जाता है। विवेक के द्वारा जो वैराग्य की भावना उत्पन्न होती है वह हृदय में दृढ हो जाती है कि संसार से वैराग्य होना ही ठीक है। मन में कहीं-न-कहीं लगा रहता है कि अमुक-अमुक चीजें सुधर जाएँ तो संसार ठीक हो जायेगा पर यह संसार कभी ठीक हो नहीं सकता। इस संसार में धर्मस्थापन के लिए परशुराम आये, वामन आये, राम, कृष्ण आये। आकर उन्होंने धर्मरक्षा की प्रतिज्ञा ली। परन्तु फिर अधर्म व्याप्त हो गया क्योंकि संसार के लोगों का विवेक ही ऐसा है कि अधर्म बार-बार खड़ा हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में जो विवेक के द्वारा वैराग्य आता है वह असत् लोगों के चरित्रों की आलोचना से निश्चित हो जाता है। इसलिए वे गुरु की तरह हैं। लोग पूछते हैं कि पुराणादि के अन्दर दुर्जनों की लीलाएँ क्यों? वे इसीलिए हैं कि यह वैराग्य का भाव दृढ हो जाए।

गुरुओं की तरह ही असत् लोगों के चरित्र भी हमें उपदेश देते हैं। उन्होंने दुर्व्यवहार किया। शब्द से तो उपदेश नहीं दिया पर मैं समझता हूँ, मैंने उसका अर्थ समझ लिया और वह मेरे लिए उपदेश हो गया। कई बार बुद्धिमान् उपदेश ले लेता है पर मूर्ख नहीं ले पाता। मुँह से कहो, तभी लेता है। एक आदमी था, उसको अपना घोड़ा बड़ा प्रिय था। एक बार किसी के घर शादी थी। वह उनके पास आकर बोला 'भाई! अपना घोड़ा दे दो। मेरे बेटे की शादी है'। उसने कहा 'अभी घोड़ा नहीं है'। तभी घोड़ा हिनहिनाया। दूसरे व्यक्ति ने कहा 'अरे! घोड़ा तो अन्दर है'। उसने जवाब दिया 'अरे! तू घोड़े की आवाज

पहचानता है, आदमी की आवाज नहीं पहचानता! जा, नहीं देता'। बुद्धिमान् होता तो घोड़े की आवाज से समझ जाता कि यह देना नहीं चाहता, परन्तु मूर्ख था अत: उसकी समझ में नहीं आया। ठीक इसी प्रकार से असत्पुरुष हमें अपने आचरण से उपदेश ही देना चाहते हैं पर मूर्ख कहते हैं कि 'इसने उपदेश देने के लिए तो ऐसा किया नहीं'। उसने उपदेश *के लिए* नहीं किया पर अर्थत: उपदेश हो तो गया, जैसे घोड़ा उस आदमी को कुछ बताने के लिए तो नहीं हिनहिनाया पर अगर उसने उसे सुनकर उस आदमी का तात्पर्य समझ लिया होता तो मुँह के ऊपर अपमान नहीं भोगना पड़ता। अगर हम भी असत् आचरण से शिक्षा ग्रहण कर लें तो वैसे आचरणों से बचते हैं और संसार के प्रति वैराग्य दृढ हो जाता है। इसलिए भावना करनी चाहिये कि जो हमसे द्वेष करते हैं उनके प्रति मैं कैसे द्वेष करूँ?—उन्होंने तो मुझसे द्वेष कर मुझे समझाया ही है।

असज्जन अर्थात् अविनीत। लोग कहते हैं 'आदमी तो अच्छा है पर जरा क्रोध करता है'। कोई भी *आदमी* अच्छा या बुरा नहीं है, जब कहते हैं कि वह अच्छा है तब मतलब है कि उसका आचरण अच्छा है। अच्छे या बुरे आचरण के आधार पर ही व्यक्ति अच्छा या बुरा होता है। इसलिए आदमी अच्छा है पर गुस्सा करता है—यह व्यर्थ की बात है। यदि मतलब यह है कि उसमें चार गुण हैं और एक दोष है, तो बात ठीक है कि उसमें सत् और असत् मिले हुए हैं। यह तो जरूरी नहीं है कि किसी में सारे गुण ही हों, लेकिन जो उसमें असत् गुण है उससे वह उतना असत् पुरुष भी है, जो सद्गुण हैं उनसे वह सत्पुरुष है। आचरण को छोड़कर न किसी को अच्छा कह सकते हो, न बुरा। सज्जन अर्थात् जिसका चरित्र, चेष्टा, आचार सत् हैं, सात्त्विक हैं। ऐसे ही असज्जन वे हैं जिनका आचरण असत् है। असज्जनों की चेष्टाएँ भी हमारे लिए उपदेश है, उन्हें विद्वान् उपदेश समझकर ग्रहण करता है जिसके फलस्वरूप उस प्रकार के आचार से

तो बचता है ही, संसार के प्रति भी 'यह वैराग्य के ही योग्य है' यह निश्चय दृढ कर पाता है। विचार मात्र से वैराग्य-प्राप्ति होती है परन्तु असज्जनों के चरित्रों को देखने पर 'यह संसार ऐसा खराब है, इसमें से निकलना कितना अच्छा है'—यह निश्चय हो जाता है, वैराग्य के अनुकूल व्यवहार करने की प्रेरणा मिलती है। गुरु वे हैं जो हमें ज्ञान, वैराग्य का उपदेश करते हैं। उन्होंने वैराग्यलाभ किया भी है, शिष्यों को कराते भी हैं। उसी तरह से मेरे प्रति द्वेष करने वाले असज्जन मेरे उपकारी हैं, क्योंकि मुझे वैराग्य की तरफ प्रवृत्त करते हैं। चाहे शब्दत: कहें या अर्थत: कहें, उपदेश देते हैं इस निमित्त से गुरुजनों की तरह ही हैं। वे हमें उपदेश देने वाले हैं। अत: उनके प्रति हम द्वेष कैसे करें? उनके प्रति थोड़ा-सा द्वेष करना भी अनुचित है।। ९।।

इतश्च तेषु प्रतिद्वेषो न कार्यो मया—

अहं न चेत् स्याम् मयि दुष्टभावनामिमे व्रजेयुर्न निराश्रया जना:।
तदेनसा योजयिता परान् स्वयं ममैव युक्तात्र ननु ह्यपत्रपा।।१०।।

अहमस्मिन् देशे काले च न चेद्देहवान् स्याम् मयि देहरहिते दुष्टभावना दुष्टो भावो यस्येति दुष्टभाव: तां भावनां न व्रजेयुरिमेऽसद्वृत्ता: जना: निराश्रया: निर्विषया: अतोऽहं देहभावात्तेषां दुष्टभावनाया आश्रय एकस्संवृत्तो निमित्तमिति। तस्मादेनसा पापेन योजयिता परान् स्वयं अहमतो ममैवापराधित्वाद्युक्तात्रास्मिन् विषये, ननु युक्तएवेत्यर्थ:। अपत्रप लज्जा।।१०।।

यदि मैं न होता तो द्वेष करने योग्य पात्र न मिलने से ये लोग दुष्टभावनाएँ न करते। अत: इनसे यह पाप कराने वाला मैं ही हूँ जिससे संगत यही है कि मुझे ही लज्जा आये।

मैं प्रतिकूलवर्तियों से द्वेष न करूँ इसमें एक और हेतु बताते हैं: असज्जन लोग कुचेष्टाएँ मेरे साथ करते हैं। क्यों करते हैं? बहुत बड़ा कारण है कि मैं हूँ! इसलिए, मैं हूँ, तभी वे मेरा बुरा करते हैं। अगर मैं नहीं होता तो ये बेचारे दुष्टभावना वाले नहीं बनते। गाली-गलौज

करने के लिए हमेशा कोई विषय चाहिए जिसे सुनाया जाये। अगर मैं न होता तो ये लोग गाली देना आदि पापकर्म क्यों करते? किसे गाली देते या मारते? इसलिए मैं ऐसा हूँ जो अपने होने से दूसरों को पापकर्म करने में प्रवृत्त करता हूँ। अत: जब भी ये मारपीट करें तब निश्चित रूप से मुझे स्वयं अपने ऊपर शर्म आनी चाहिए कि मेरे कारण ही ये ऐसा पाप करते हैं, अत: दोष मेरा ही है। मैं इनको पापी बना रहा हूँ। मैं इस देश में, जो इन लोगों का देश है वहाँ मौजूद हूँ। अत: ये मेरे साथ ऐसा करते हैं। यदि मैं दूसरे देश में होता तो ये पाप नहीं करते। यदि मैं इन लोगों के काल में न पैदा होता, सौ साल पहले या सौ साल बाद में पैदा होता, तो ये बेचारे क्यों ऐसा करते? मैंने सबसे बड़ा अपराध किया कि जन्म लिया। इन्हीं के देश-काल में जन्मा हुआ होने के कारण इनको गाली-गलौज के लिए प्रवृत्त करता हूँ। 'मैं' आत्ममात्र रहता तो ये मारपीट नहीं करते। पर मैं शरीरवाला हो गया इसलिए ये ऐसा करते हैं। अगर मैं देहरहित होता तो मेरी आत्मा के प्रति इनको दुष्ट-भावना होती नहीं। असज्जनों में दुष्ट भाव हैं, इसमें संदेह नहीं है। परन्तु मन में दोष रहना और शरीर से उसे प्रकट करने में बहुत फर्क है। इन लोगों के मनोगत दोषभावों को प्रकट करने के लिए मेरे शरीर की अपेक्षा रहती है। अर्थात् मेरे कारण उनका दुष्टभाव नहीं है, वह तो उनका अपना ही है, परन्तु उसे शरीर और वाणी द्वारा प्रकट करने का मौका मैं देता हूँ। यदि मैं देह धारण कर उनके सामने न होता तो उस भावना को वे प्रकट नहीं करते क्योंकि विषय न होने से वह दुर्भावना स्फुट नहीं होती, प्रकट नहीं होती, दबी रह जाती। किसी को शराब के प्रति आसक्ति हो पर उस देश में शराब मिले ही नहीं तो वह शराब पीने के पाप से बच जाता है। जिसे शराब के प्रति कामना है ही नहीं, उसे तो शराब की दुकान पर भी खड़ा करने पर भी वह उसे छुयेगा नहीं।

कुछ लोग यह कहते हैं कि यदि मन में दुष्टभाव है पर उसे

प्रकट नहीं किया तो क्या फायदा? यद्यपि मानस पाप भी छोड़ने ही योग्य है, मन से दुष्ट भाव हटाना ही चाहिये, लेकिन यदि शरीर या वाणी से वह पाप नहीं किया तो उस अधिक पाप से तो बचे ही, यह लाभ हो गया। अतः अभ्यासी को चाहिए कि पाप को क्रियारूप में प्रकट होने का मौका ही नहीं दे। दूसरे के धन को लेने की इच्छा लोगों में होती है पर जहाँ कड़ा दण्ड होता है जैसे पाँच रुपया लेने पर भी तुम्हारा हाथ काट दिया, वहाँ कोई यह अपराध नहीं करता अतः चोरी के पाप से बच जाता है। इसका मतलब यह नहीं कि वहाँ रहने वालों के मन में चोरी नहीं है। मन में तो है, परन्तु प्रकट नहीं कर पाते। अतः सामाजिक व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जहाँ मनुष्य पाप की प्रवृत्ति ही न करें। मन को सुधारना तो अध्यात्म का विषय है। अध्यात्म दृष्टि से अगर मन से भी चोरी की है तो चोरी हो गई, चोरी का पाप लग गया। इसलिए महर्षि वशिष्ठ कहते हैं कि मन से जो काम किया जाता है वही प्रधान है, शरीर मात्र से किया हुआ प्रधान नहीं माना जाता। अध्यात्म की दृष्टि से मन में रहने वाली जो दुष्टभावना है वही आध्यात्मिक पुरुष के लिए पाप है। इसी को शास्त्रीय भाषा में भगवान् गौडपादाचार्य ने कषाय दोष कहा है, अर्थात् जो प्रकट नहीं हुआ है पर मन में बैठा हुआ है। यह कषाय दोष आत्मा का साक्षात्कार नहीं होने देता। हमारी आँख कमजोर है, इसलिए चश्मे से ही कोई चीज़ दीखती है। यदि चश्मा साफ़ नहीं हो तो चीज पास होने पर भी नजर नहीं आएगी। इसी प्रकार आत्मा अपने को जानने के लिए मन की अपेक्षा करता है। हमें सारा संसार क्यों दीख रहा है? मन दोषवाला है इसलिए; अगर मन दोषवाला न हो तो सिवाय सच्चिदानंद के हमें कुछ भी दीखना नहीं चाहिए। वेद स्पष्ट कहता है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। आचार्य कहते हैं कि जब हमें नामरूप की प्रतीति हो रही है, वास्तव में तो नामरूप कुछ है नहीं, तब भी वह सब ब्रह्म ही है। जिस प्रकार से जब हमें साँप दीख रहा है रस्सी के स्थान पर, उस

समय भी रस्सी के सिवाय वहाँ कुछ है नहीं। परन्तु जैसे वहाँ अंधकार के कारण हमें भ्रम हो रहा है वैसे ही जहाँ केवल शुद्ध चिन्मय है वहाँ अज्ञान के कारण हमें भ्रम हो रहा है। भ्रमकाल में तो ऐसा लगता है कि साँप ही है। इसी प्रकार भ्रमकाल में यह संसार हमें सत्य ही लगता है। परन्तु वस्तुत: है नहीं।

ऐसा होने पर भी ऐसा दर्शन क्यों नहीं हो रहा? मन रूप चश्मे से देखा जाएगा और उस पर कषाय दोष की परत चढ़ी हुई है। जब वह कषाय दोष हटता है तब बड़ी हँसी आती है कि ऐसा दीखा कैसे था! वास्तविकता दीखेगी कैसे? प्रकाश से, लेकिन आँख ठीक होना जरूरी है। जिसके मन में 'यहाँ भूत है'—यह संस्कार दृढ है उसे लाख समझाओ कि वहाँ भूत न है, न हो सकता है, फिर भी उसे भूत दीखता ही है। इसी तरह श्रुति कहती है कि अज्ञान सच्चा नहीं फिर भी हमें चीजें दिख रही हैं क्योंकि कषायों से हमारा मन भरा पड़ा है। जब मन कषाय दोष से रहित हो जाता है तब वहाँ दीख रहा था यह समझ में नहीं आता। आचार्य कहते हैं – 'अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महद् अद्भुतम्'। श्रुति वाक्य से मन के द्वारा अपरोक्ष साक्षात्कार होने पर जो संसार अभी-अभी दीख रहा था वह सर्वथा अनुपलब्ध हो जाता है। भूत है—यह भी आँख की मदद से ही दीख रहा था। भूत नहीं है—यह भी आँख की ही मदद से दीखता है। इसी प्रकार मन की मदद से ही अज्ञान इन सारे नाम रूपों को दिखलाता है और मन की मदद से ही वेद, 'ये नामरूप नहीं हैं' इसका साक्षात्कार करा देता है। ये कषाय रूप दोष अध्यात्मसाधक के लिए तो सबसे बड़े बन्धन हैं पर जो अध्यात्ममार्गी नहीं है, उसके अन्दर यदि दुष्टभाव हैं भी और वह वाणी और शरीर से पाप कर्म नहीं करता तो उसका लाभ ही है। ऐसे व्यक्ति को व्यक्त पापी बनने का मैं मौका दे रहा हूँ यह मेरा अपराध है। यदि मैं न होता तो ये लोग दुष्टभाव प्रकट न करते। ऐसा नहीं कि मेरे कारण वे दुष्ट भावना वाले हैं, पर मैं हूँ तभी वे अपनी

दुष्टभावना प्रकट कर पाते हैं।

मैं चूँकि देहवाला हो गया अर्थात् देह के अन्दर मैंने जन्म लेकर इस देह को सत्तावाला बना दिया इसी से मैं अपराधी बना। देह जीव की सत्ता के बिना शव है। शरीर का यदि जीव से सम्बन्ध नहीं हो तो कहोगे कि वह शव है, मुर्दा है। शरीर उसको तभी कहते हैं जब वहाँ जीवभाव हो। जैसे लोहे पर जब तक धार नहीं दी गयी तब तक वह तलवार नहीं है ऐसे जीवविहीन होने पर शरीर नहीं है। हमलोगों के अन्दर जोश तो काफी मात्रा में होता है, बात तो लोग इससे कम करेंगे नहीं कि दुश्मन को उड़ा देना चाहिए! परन्तु जोश में धार नहीं है। अगर एक को भी काटने का मौका आवे तो हरेक वहाँ से भाग जायेगा। जैसे लोहे में धार नहीं है तो वह तलवार नहीं है सिर्फ लोहा है, इसी प्रकार सजीव होने पर ही शरीर है। जो बढ़ता है उसको देह कहते हैं। जब तक हम जिन्दा हैं तब तक वह बढ़ता रहता है। रोज़ सैंकड़ों कोशा नष्ट होंगे और सैकड़ों कोशा बनेंगे। साधारण लोग कहते हैं कि 'इक्कीस साल का हो गया, अब बढ़ेगा नहीं', पर वास्तविकता है कि हमेशा ही बढ़ता रहता है। इसी लिए यह देह है। जैसे ही जीव का संबन्ध इससे हटा, मोटी भाषा में जब मर गया, वैसे ही इसके अन्दर कोई बढ़ोत्तरी नहीं होती। यह देहभाव मेरे कारण ही है। मैंने चूँकि जन्म लेकर इस देहभाव को लिया, मैं इस शरीर के साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त कर गया, इसलिए असज्जनों की दुष्टभावना प्रकट होने का मैं आश्रय बन गया, सहारा बन गया, विषय बन गया। हमारे एक परिचित व्यक्ति को किसी विश्वविद्यालय का उपकुलपति बनने का मौका मिला पर वे अध्ययन–अध्यापन के शौकीन थे। अत: उन्होंने वह पद स्वीकारा नहीं। वहाँ के छात्रों ने उनसे बहुत अनुनय की कि वे अवश्य पद स्वीकार लें। उन्होंने आश्चर्य से पूछा 'क्यो?' छात्रों ने जवाब दिया कि 'छ: महीने से इस पद पर कोई नहीं है तो हम किसका पुतला जलायें? किसके मुर्दाबाद के नारे लगाएँ!' इसी प्रकार अगर मैं

ही देहभाव में न आया होता तो ये बेचारे किससे धक्का-मुक्की करते? उनकी दुष्टभावना का आश्रय तो मैं ही हूँ।

कोई पूछे कि अगर आप न होते तो क्या ये कुछ भी दुष्ट कार्य नहीं करते? जवाब देते हैं कि दूसरे भी निमित्त हैं लेकिन कम-से-कम एक तो कम होता। एक कारण तो मैं बन ही गया। इस शरीर के साथ संयुक्त होकर, इस देशकाल में पैदा होकर, इन लोगों को मैंने पाप में लिप्त कर दिया। यदि मैं देहधारणकर उपस्थित न होता तो मैं इनके पाप-लेप का कारण नहीं बनता। मैंने निमित्त बनकर इनसे ज्यादा ही पाप करा दिया—यह स्पष्ट करते हैं: यद्यपि चरस इत्यादि भी नशा है तथापि उन नशों को शास्त्रों में महापाप नहीं कहा है। नशा करना पाप तो है पर शराब पीना महापाप है। नशे की लत हो तो भी शराब न पीकर महापाप से तो बचा जा सकता है। इसी प्रकार किसी के भी प्रति गलत व्यवहार करना बुरा है, परन्तु जो आत्मवेत्ता है उसके साथ दुर्व्यवहार करना अत्यन्त बुरा है। जितना श्रेष्ठ व्यक्ति हो उसके साथ गलत व्यवहार उतना ही ज्यादा पाप माना है। साधारण आदमी से विद्वान्, साधारण विद्वानों से सदाचारी विद्वान् को शास्त्रों में श्रेष्ठ बताया है। ब्रह्मवेत्ता को सर्वश्रेष्ठ माना है। मैं आत्मवेत्ता होकर इन लोगों को पाप कर्म में प्रवृत्त होने में मदद कर रहा हूँ इसलिए इनको अत्यधिक बड़े पाप से युक्त कर रहा हूँ। यदि मैं न होता तो ये किसी साधारण व्यक्ति पर अत्याचार करते और साधारण पाप वाले बनते पर अब मैं हूँ तो मुझपर अत्याचार कर रहे हैं जिससे अधिक पाप वाले हो रहे हैं। अत: सच्ची बात तो यह है कि मैं ही अपराधी हूँ जो इन्हें इतने बड़े पाप का भागी बना रहा हूँ। इस विषय में युक्त तो यह है कि मुझे लज्जा आनी चाहिए। मैंने ऐसे कर्म किये कि आत्मज्ञान के बाद भी शरीर के साथ संबन्ध रख करके इन बेचारों से द्वेषादि का पाप करवा रहा हूँ। यदि मैं ही न होता तो क्या इनको ऐसा व्यवहार करने का मौका मिलता? युक्त है कि मुझे ही इस विषय में लज्जा

आनी चाहिए।

शर्म दो तरह की होती है। बहुत से अच्छे काम शर्म से होते हैं। कहीं त्रपा अर्थात् लज्जा मनुष्य को सहारा देती है। गलती से रोकने वाली लज्जा त्रपा है जबकि गलती करने पर होने वाली लज्जा अपत्रपा है। प्रारब्धवश मैं जीवित रहता तो भी शर्म की बात थी भले ही मैं साधकों को सन्मार्ग पर चलने में मदद करता। लेकिन अब क्योंकि मैं अनेकों को ऐसा घोर पाप करने में प्रेरित कर रहा हूँ, इसलिए मुझे अपत्रपा हो रही है, ज्यादा शर्म आ रही है। इसलिए जो यति लोग हैं उनको क्षमा की ही भावना रखनी चाहिए कि गलती हमारी है। जहाँ अपनी ग़लती से काम बिगड़ता है वहाँ आदमी में क्षमा बड़ी सरलता से आ जाती है! कोई दूसरा गलती करता है तो क्षमा करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है और अगर स्वयं गलती कर ले तो अनेक कारण सूझते हैं कि 'ऐसा-ऐसा हो गया इसलिए मैंने ऐसा किया, मेरी *गलती* नहीं है।' दूसरे की गलती हमेशा हमें लगती है कि 'इसे नहीं ही करनी चाहिए थी', और अपनी गलती ऐसी लगती है कि 'इसे बिना किये तो काम हो ही नहीं सकता था'। इस प्रकार जब अपनी गलती मान ली जाती है तब क्षमा करना अधिक सरल हो जाता है। अतः उक्त विचार अत्यंत कारगर अंकुश है।। १०।।

अतश्च क्षमैव कर्तव्या यतिभिः —

तपःश्रुतिज्ञानसमाधिदूषणा भवन्ति विघ्नाः किल सोऽयमुत्थितः।
न मे सकामो भवतीति न त्यजेच्छमे धृतिं दुर्जनदोषदूषितः।।११।।

यतीनां तु तपश्च शीतोष्णादिसहनं श्रुतिःश्रवणं ज्ञानमध्यात्मविद्यात्मानात्मादिपदार्थाध्यवसानं समाधिरात्मनि मनस्समाधानम्,

एते धर्मा नियमेन किल कर्तव्यास्तेषां दूषणाः प्रतिपक्षभूता भवन्ति विघ्नाः किल क्रोधादयः मोक्षफलप्राप्तौ; सोऽयं मुमुक्षोः श्रूयमाणो विघ्न उत्थितस्सकामः सफलो मे न भवति न स्याद्यद्ययं दुर्जनदोषरूषितः क्षमां न कुर्यादिति मत्त्वा शमनिमित्तं धृतिं धैर्यं न त्यजेत् न परित्यजेत् क्षमैव कर्तव्येत्यर्थः।।११।। *(दुर्जनदोषरूषित इति टीकापाठः)*।

तपस्या, श्रवण, पदार्थशोधन, समाधान—इन यतिधर्मों में विघ्न होते हैं क्रोधादि। दुर्व्यवहारादिसे मुझे होता क्रोध ऐसा ही विघ्न है। दुर्जनों द्वारा आरोपित दोष वाला होकर भी यदि मैं धैर्यपूर्वक शांत बना रहा तो इस विघ्न की कामना पूरी नहीं होगी।

कठोर तितिक्षा का प्रसंग होने से यह विषय यतियों का, संन्यासियों का है; उन्हें क्षमा ही करनी चाहिए इसमें और भी हेतु है: तप, श्रुति, ज्ञान और समाधि—ये मुझ यति के धर्म हैं जिनमें आने वाले विघ्न हैं क्रोधादि। मेरे प्रति दुर्व्यवहार करने वाला मुझमें क्रोध उत्पन्न करके मेरे मोक्ष में विघ्न डालना चाहता है। यदि मैं शान्ति बनाये रखूँ, किसी प्रकार का प्रतिद्वेष न करूँ, तो यह विघ्न मेरे प्रति सफल नहीं हो पायेगा। विघ्न इसीलिए आया कि मैं विक्षिप्त हो जाऊँ। जब मैं विक्षिप्त नहीं होऊँगा तो उसको सफलता नहीं मिलेगी। इसलिए दुर्जनद्वारा आरोपित दोष वाला होने पर भी, उसके द्वारा दोषारोपण किया जाने पर भी, यति को धैर्यपूर्वक क्षमा ही करनी चाहिए, अधीर नहीं होना चाहिए। तभी दुष्ट का प्रयास सफल होने से रुकेगा, अन्यथा यदि मैं क्रुद्ध हो ही गया तो जीत दुष्ट की ही होगी क्योंकि यही वह चाहता है कि क्रोधादि उत्पन्न होकर मेरी साधना में विघ्न आवें।

यतियों के, ज्ञानसाधकों के लिए तप आदि नियमपूर्वक किये जाने वाले धर्म हैं। जैसे गृहस्थ के लिए संध्या आदि कर्म हैं वैसे संन्यासी के लिए संध्यादि नहीं अपितु तपआदि कर्म विहित हैं। पहला धर्म कहा तप—कष्ट सहन करना। कष्ट, जैसे सर्दी गर्मी को सहन करना। सर्दी गर्मी को अगर सहन नहीं करता तो वह अपने धर्म का पालन नहीं

कर रहा है। गीता में भी तीन चीजें बताई हैं 'शीतोष्ण-सुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।' सर्दी भी सहन करे और गर्मी भी। सुख सहन करे और दुःख भी। सन्मान और अपमान दोनों सहन करे। दुःख सहन करना तो लोगों को समझ में आता है पर सुख *सहन* करना समझ नहीं आता। किसी दूसरे की इच्छा से न चाहते हुए भी सुख को सहन करना पड़ता है। सुख को और दुःख को सहन करना यह इन्द्रियों का कार्य है। जो चीज इन्द्रियों को अच्छी लगती है वह सुख है, जो अच्छी नहीं लगती वह दुःख है। मान-अपमान—ये मन से संबन्धित हैं। मान मिलने से सुख होता है, अपमान मिलने से दुःख होता है। सर्दी-गर्मी आदि अलग-अलग स्थितियों के द्वारा यह बताया कि; मन को कोई चीज कैसी भी लगे साधक को समभाव नहीं छोड़ना चाहिए। सुख-दुःख से भी यही बताया कि समभाव को नहीं छोड़ना चाहिए। शीतोष्ण से भी यही बताया कि शरीर को समभाव नहीं छोड़ना चाहिए। इसलिए शास्त्रकारों ने कहा है कि मन और इन्द्रियों की एकाग्रता परम तप है। 'एक' शब्द का अर्थ यहाँ ब्रह्म है। 'एक' 'अद्वितीय' ये सभी शब्द परमात्मा को व्यक्त करते हैं। मन और इन्द्रियों की एकाग्रता का अर्थ है कि सभी स्थितियों के अन्दर ब्रह्म-दृष्टि बने। यही समदृष्टि है।

गीता में भगवान् ने कहा—'निर्दोषं हि समं ब्रह्म।' ब्रह्म सम है। समभाव ही ब्रह्मभाव है। आजकल लोग समभाव का बड़ा विचित्र अर्थ करते हैं: कहते हैं सबको एक समान समझो—यह समभाव है। एक सात फुट का आदमी है और दूसरा तीन फुट का, इन दोनों को समान कैसे समझा जाये? इसलिए इस प्रकार की जो समता की बातें हैं वे व्यर्थ की हैं। समता तो केवल ब्रह्म अर्थ में ही है। ब्रह्मदृष्टि का अर्थ यही है कि जो नाम रूप वाली उपाधियाँ हैं उनको हटाते रहो। नाम-रूप उपाधियाँ नहीं हैं, अतः सम हैं। जैसे रस्सी में दीखने वाला साँप वैसी ही मोतिय़ों की माला, अतः क्योंकि दोनों नहीं हैं, इसलिए समान हैं। साँप और मोतियों की माला रहते हुए उन्हें एक नहीं कह सकते हैं।

न साँप है, न मोतियों की माला, केवल रस्सी है–यह समता ही संभव है। इन्द्रियों के द्वारा जब किसी को विषय करो तब नाम-रूप को हटा कर सच्चिदानंद की तरफ ही दृष्टि करो। इसी प्रकार मन के द्वारा जब कोई चीज ग्रहण की जाए तो अधिष्ठान मात्र की तरफ दृष्टि करो। जब लग 'रहा था कि आँख साँप को देख रही है तब भी देख तो रस्सी को ही रही थी। इसी प्रकार जब हमें नाम-रूप दीखता है तब भी वास्तव में ब्रह्म ही भास रहा है, अज्ञान से नाम-रूप प्रतीत हो रहे हैं। यत्नपूर्वक अधिष्ठान पर दृष्टि स्थिर करना–यह यतियों के लिए परम कर्त्तव्य है।

सहन किये जाने वाले पदार्थ दो तरह के होते हैं–एक वे जो अपने से भिन्न प्रतीत होते हैं और दूसरे वे जो अपने से एक होकर प्रतीत होते हैं। सर्दी-गर्मी की प्रतीति अपने से अलग होकर होती है कि ये कोई बाहरी चीजें हैं जो मुझे लगती हैं। सुख-दुःख, मान-अपमान यों बाह्य वस्तु के रूप में प्रतीत नहीं होते वरन् 'मैं सुखी या दुःखी, मैं मानित या अपमानित' इसी तरह प्रतीत होते हैं। जो बाहरी होकर प्रभावित करता है उसकी अपेक्षा वह ज्यादा बन्धनकारी है जो अपने से एक-मेक होकर प्रभावित करता है, अतः उसे सहन करना कठिन भी अधिक होता है। बाहरी द्वन्द्वों के प्रति तो 'ये है ही नहीं, केवल प्रतीत हो रहे हैं जैसे रस्सी में साँप प्रतीत होता है'–यह दृष्टि बनाने से सहन कर सकना कुछ सरल है लेकिन अपने से एक होकर प्रतीत होने वाले द्वन्द्वों को यों समझ नहीं सकते कि 'मैं सुखी या दुःखी, मानित या अपमानित हूँ ही नहीं' क्योंकि इसमें मैंका ही निषेध लगता है जो युक्ति और अनुभव से विरुद्ध है। अतः इन्हें सहने के लिए तभी सामर्थ्य आती है जब समाहित होकर सुखी-दुःखी आदि होने वाले मैं से अतिरिक्त जो अविकारी मैं है उसे समझ लिया जाये जिससे इन्हें सहने के तप को, एकाग्रता को, परम तप कहा जाता है। संन्यासी निरन्तर विचार करे कि मैं से सर्वथा पृथक् दृश्य जगत् है ही नहीं और मैं

के साथ एक होकर प्रतीत होने वाले सुख-दु:ख आदि विकारों के बारे में निश्चय रखे कि वास्तविक मैं तो निरन्तर एकरस हूँ किन्तु ये अनित्य, आगमापायी विकार नहीं हैं। इस प्रकार मैं के निषेध की स्थिति न आने से यह तप सम्भव हो जाता है।

इस विचारपूर्ण तप की प्राप्ति के लिए 'श्रुति' अर्थात् श्रवण की जरूरत है। इस दृष्टि को प्राप्त करने के लिए वेदान्तों के श्रवण का नियम है। श्रवण अर्थात् पूर्वापर सम्बन्ध, अभ्यास, फल इत्यादि के द्वारा विचार करके उपनिषदों का एक ब्रह्म में ही तात्पर्य है—इस बात को गुरु के द्वारा निश्चित करना। सामान्य भाषा में 'श्रवण' का अर्थ सुनना होता है परन्तु वेदान्त के अन्दर कहते हैं 'सह वीर्यं करवावहै' हम—गुरु और शिष्य—दोनों मिलकर परिश्रम करेंगे। अत: केवल गुरु के द्वारा कह दिये जाने से ही श्रवण नहीं होता। शिष्य को इसका निश्चय करना पड़ता है। निश्चय करने के लिए अपने संशयों की निवृत्ति आवश्यक है। स्वयं अथवा गुरु के द्वारा संशयनिवृत्ति करना आवश्यक है क्योंकि किसी भी चीज के अन्दर संशय निश्चय को नहीं होने देता। इसलिए परमात्म-मार्ग में यह नियम नहीं चलता कि 'होगा तो ठीक है, नहीं होगा तो भी ठीक है'। यद्यपि धर्ममार्ग के अन्दर श्रद्धा भी एक तरह से निश्चय का ही रूप है तथापि श्रद्धा के अन्दर मन के निश्चय का प्राधान्य है, 'मैं निश्चय करूँ'—यही जरूरी है। किसी बात को स्वीकार लेना यह भी निश्चय का एक प्रकार है परन्तु वह निश्चय *किया* जाता है और मैं निश्चय *करता* हूँ। जबकि श्रवण के अन्दर निश्चय *करना* नहीं, निश्चय *होना* है। कैसे? सामने काला पत्थर है। आँखों के द्वारा अच्छी रोशनी में वह काला पत्थर ही है— ऐसा निश्चय होता है पर 'यह शालिग्राम है'— यह निश्चय होता नहीं वरन् करना पड़ता है। अत: ज्ञानरूप निश्चय और क्रियारूप निश्चय में बड़ा फ़र्क है। क्रियारूप जब तक करते रहेंगे तभी तक रहेगा। ज्ञानरूप निश्चय हम करें, न करें, बना ही रहेगा। अत: उपनिषदों का पूर्वापर विचार खुद करना पड़ता

है। गुरु करवाते तो हैं पर स्वयं करना पड़ता है। बढ़ई का काम सिखाना हो तो लकड़ी और औजारों के बारे में समझाना भी पड़ता है, करके दिखलाना पड़ता है, अपने सामने करवाना पड़ता है; अगर सीखने वाला स्वयं करे नहीं तो सिखाने वाले के बताने मात्र से उसे वह काम पूरी तरह आ नहीं सकता, वह कुर्सी-मेज आदि बना नहीं सकेगा। जैसे बढ़ई बनने वाले को औजार खुद चलाने पड़ेंगे, इसी प्रकार शास्त्रविचार के नियम और क्रम सीखकर तात्पर्य-निश्चय शिष्य को स्वयं करना पड़ेगा। उपनिषदों के तात्पर्य का किस प्रकार निश्चय होता है, इसके क्या साधन हैं, किस प्रकार के नियमों के द्वारा तात्पर्य निर्धारित किया जाता है–ये सारी बातें औजार हैं। इन नियमों को कैसे लागू करना यह भी बतलाया जाता है। परन्तु अन्त में उनका ऊहापोह करके निश्चय शिष्य को स्वतः करना होगा।

जब तक निश्चय न होवे वेदान्त का विचार करते ही रहना पड़ेगा। इसलिए शास्त्रकारों ने कहा कि अपना सारा समय वेदान्त-चिन्तन में ही लगाना चाहिए। अन्य कोई कार्य बीच में करेगा तो संस्कार दृढ नहीं बन पायेंगे। वेदान्त उसे बतला रहा है जो सत्य है। अन्य सारे व्यवहार मिथ्या पर आधारित हैं। बिना मिथ्या चीजें लाये व्यवहार हो नहीं सकता। इसलिए भगवान् भाष्यकार शंकर कहते हैं कि सत्य और अनृत, दोनों को मिलाकर ही कोई भी लौकिक व्यवहार कर सकते हैं। अनृत का अर्थ यहाँ लौकिक झूठ नहीं है वरन् तात्पर्य है कि यह जो नाम-रूपात्मक संसार है इसे सामने रखे बिना व्यवहार सम्भव नहीं हो सकता। अन्य व्यवहारों के अन्दर बार-बार अनृत के संस्कार दृढ होते रहेंगे तो फिर सत्य का संस्कार दृढ हो नहीं पायेगा। इसलिए वेदान्त-विचार को छोड़कर और कुछ भी नहीं करना चाहिए। उपनिषदों में भी कहा कि 'बहु' अर्थात् अनेक का प्रतिपादन करने वाले जितने शास्त्र हैं उनका चिन्तन न करे, अतः उनसे प्रसूत व्यवहारों का और उनके चिन्तन का तो प्रश्न ही नहीं है।

श्रवणादि नियमरूप से, कर्त्तव्यरूप से बताये गये हैं। संन्यासी के लिए भी ज्ञान करने को कहा। ज्ञान तो होने वाली चीज़ है, इसे करने के लिए कैसे कहा? अत: यहाँ ज्ञान अर्थात् अध्यात्म विद्या। ज्ञान यहाँ सच्चिदानन्द का साक्षात्कारमात्र नहीं है। यहाँ ज्ञान का अर्थ है अध्यात्मविद्या। गीता में भी भगवान् ने सभी विद्याओं में अध्यात्म विद्या को अपनी विभूति बताया है। अध्यात्म विद्या का अर्थ है—खुद को लेकर अर्थात् शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त सब को लेकर जो विचार किया जाता है वही अध्यात्म विद्या है। अध्यात्म विद्या का विचार करने वाला ग्रंथ है ब्रह्मसूत्र जिसे शारीरकमीमांसा कहते हैं। वहाँ शरीर में होने वाले शारीरक की मीमांसा है। शरीर में होने वाला है तो परमात्मस्वरूप, परन्तु अज्ञान के कारण अल्पभाव को प्राप्त हो गया है इसलिए उसको शारीर-क कहा। अविद्या के कारण जो जीव बना हुआ ब्रह्म है, उसकी मीमांसा करनी है। मीमांसा का अर्थ है पूज्यभाव से किसी पर विचार करना। जिसका हम विचार करने जा रहे हैं यह जीवात्मा साक्षात् ब्रह्म है। अत: इसके विषय में हमेशा पूज्य दृष्टि बनाकर रखना होगा। हमारा स्वरूप कोई साधारण वस्तु नहीं है। वह, वह है जिसके भय से सूर्य और चन्द्र भी समय पर उदित होते हैं। अत: उसके विचार में ढीलापन नहीं आना चाहिए। इसको साधारण कदापि नहीं मानना चाहिए। थोड़ी भी गलती करोगे तो बहुत बड़े भय का सामना करना पड़ेगा। ब्रह्मविचार के अन्दर अपूज्य दृष्टि कभी भी नहीं लानी चाहिए क्योंकि जिसका विचार कर रहे हो, वह सामान्य चीज़ नहीं है। विचार करने के लिए ऐसी युक्तियों को भी सोचना पड़ता है जो उस चीज़ को सिद्ध न होने दें, तभी दृढता आयेगी। उन युक्तियों को सोचते समय ब्रह्म की वास्तविकता मन से न हटे इसमें सावधान रहना चाहिए।

'मीमांसा' शब्द का प्रयोग पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा के लिए होता है। धर्म के विषय में भी पूज्य दृष्टि रखनी पड़ती है। आज लोग धर्म को क्यों नहीं समझ पाते? वे धर्म को पूज्य दृष्टि से नहीं देखते। वे तो सोचते हैं कि धर्म के प्रवर्तक जो ऋषि हैं उनकी अपेक्षा हम

ज्यादा बुद्धिमान् हैं! इसलिए सब लोग यही कहते हैं कि धर्म में कुछ तो परिवर्तन होना चाहिए। हम कहते हैं कि अतिप्राचीन ऋषि लोग ऊपर से खाते थे नीचे से निकालते थे, अब तुम कुछ परिवर्तन करो, नीचे से खाओ, ऊपर से निकालो! कहोगे कि 'हम नहीं कर सकते क्योंकि प्रकृति का नियम है'। उसी प्रकार ऋषियों द्वारा समझाये धर्म के नियमों को हम बदल नहीं सकते क्योंकि हम इनके *बनाने* वाले नहीं हैं। हम उन्हें समझ सकते हैं। जब तक धर्म के विषय में ऐसी भावना रहेगी, तब तक धर्म का विचार नहीं कर सकते। हमेशा धर्म के अन्दर खराबी को ही देखते रहोगे तो अच्छाई कभी न समझ पाओगे। श्रद्धा या पूज्यभाव रखने का यह मतलब नहीं कि युक्तिपूर्वक समझा न जाये। प्रसिद्धि है कि कुमारिलभट्ट के एक शिष्य थे प्रभाकर। एक बार अन्त्येष्टि के प्रसंग में वह बड़े सूक्ष्म प्रश्न उठा रहा था। प्रभाकर की शंकाओं का समाधान करने में कुमारिल की बुद्धि व्यग्र हो गई। दिमाग में गर्मी चढ़ गयी, वे बेहोश होकर गिर गये। साँस बन्द-सी हो गई। शिष्यों ने देखा तो प्रभाकर को डाँटा। जब उनकी अन्त्येष्टि की तैयारी प्रारम्भ हुई तो सबने प्रभाकर से कहा 'तुम्हारे कहे ढंग से अन्त्येष्टि करेंगे'। प्रभाकर ने कहा, 'नहीं, करना तो वही है जो गुरु जी ने कहा था। मैं तो केवल बात स्पष्ट करने के लिए पूछ रहा था। बात तो उन्हीं की ठीक है'। यह सुनकर कुमारिल उठ गए! बोले 'तुमने मेरी बात मान ली?' प्रभाकर ने कहा 'मरे गुरु से हार मानी है। जब तक आप जिन्दा हैं तब तक मैं पूछता ही रहूंगा'। यह है पूज्य दृष्टि, कि बात जो कही है वही ठीक है। विचारणा के अन्दर तरह-तरह की युक्तियाँ आती हैं पर पूज्य दृष्टि नहीं हटनी चाहिए।

अध्यात्म विद्या अर्थात् शारीरक का, शरीर के अन्दर होने वाले चिन्मात्र तत्त्व का विचार। इसमें प्रधान विषय क्या है? 'आत्मानात्मादिपदार्थाध्यवसानम्'। प्रत्येक दर्शन पदार्थों का पहले वर्गीकरण कर लेता है, फिर चीजों पर विचार करता है क्योंकि अनन्त नामरूपों

का एक-एक कर विचार तो हो नहीं सकता। सारी सृष्टि का विचार करने के लिए उसे कुछ वर्गों में विभक्त करना पड़ता है। कोई छः पदार्थ मानते हैं, कोई सात, कोई चौबीस पदार्थ मानते हैं। अलग-अलग शास्त्रों में अलग-अलग विभाजन है। प्रश्न उठता है कि वेदान्त कितने पदार्थों को मानता है? बस, दो को मानता है: एक आत्मा, दूसरा अनात्मा। आत्मा अर्थात् जो जानता है। अनात्मा अर्थात् जो जाना जाता है। ये दो ही पदार्थ हैं। आत्मा जानने वाला है। दृश्य कभी जानने वाला हो ही नहीं सकता और जो देखने वाला है उसको कभी जाना जा नहीं सकता। इन्हीं दो विभागों में सारी सृष्टि आ जाती है। अध्यात्म विद्या, शारीरक विद्या के अन्दर दो पदार्थ हैं। अहंकारात्मक वृत्ति से लेकर शरीर तक, और शरीर के बाहर—ये सभी चीज़ें जानी जाती हैं, सबका पता लगता है, इसलिए सारा ही अनात्मा का वर्ग है। इनसे जो भिन्न चेतन है वह आत्मा है। आत्मा और अनात्मा पदार्थों का अध्यवसान अर्थात् निश्चय कि ये दो ही पदार्थ हैं और आत्मा का क्या स्वरूप है, अनात्मा का क्या स्वरूप यह, निश्चित रूप से जानना। किसी ने हमें पीठ पर मारा। हम कहते हैं मुझे मारा। किसने जाना? मैंने जाना। मैं शब्द के दो अर्थ हैं—'मुझे मारा' में मैं का अर्थ है शरीर क्योंकि मार शरीर पर ही पड़ी। और मैं शब्द का अर्थ जानने वाला भी है। मैं का अर्थ सिर्फ शरीर नहीं क्योंकि मुर्दा मैं नहीं समझा जाता। जानने वाला मैं है तभी तक शरीर भी मैं है। क्योंकि शरीर कभी मैं कहा-समझा जाता है और कभी नहीं, इसलिए विचार-पूर्वक यह अध्यवसाय करना पड़ेगा कि शरीर चेतन नहीं ही है। यह निश्चय करना पड़ेगा कि कौन आत्मा है, कौन अनात्मा है। सारा व्यवहार आत्मा-अनात्मा के मिले-जुले रूप से होता है। विचार भी एक व्यवहार है। शरीर और चेतन आत्मा—इन दोनों को मिलाकर ही शरीर का विचार करोगे। स्थूल की तरह सूक्ष्म शरीर का विचार भी आत्मा से मिले-जुले रूप का ही होगा। अहंकार और चेतन दोनों को मिलाकर ही विचार करोगे। मिले-जुले

रूप के आधार पर विचार कर अन्वय-व्यतिरेक से निर्धारण कर निश्चय करना है कि परम ब्रह्म परमात्मा का स्वरूप क्या है। अत: अनात्मा के निश्चय में वेदान्त शास्त्र प्रवृत्त नहीं है वरन् अनात्मा से पृथक् कर आत्मा के निश्चय में प्रवृत्त है। इसीलिए अनात्म भेद के निर्धारण को यहाँ आदर नहीं दिया जाता। शरीर-शास्त्र या आयुर्वेद तो बतायेगा कि शरीर के कितने भेद हो सकते हैं, कितने अंग हो सकते हैं, कितनी हड्डियाँ हैं, इसके अन्दर वायु का संचार कैसे होता है इत्यादि। किन्तु अध्यात्म विद्या में यह विस्तार अवांच्छित है। यहाँ शरीर का नहीं वरन् शारीरक स्वरूप का निर्धारण अपेक्षित है। अनात्मा से विविक्त आत्मा का अध्यवसाय करना है। अत: अनात्मा के अध्यवसाय में नहीं, अनात्मा के भेद के बारे में विचार नहीं करना है। अनात्मा को इसलिए समझना है कि गलती से उसे आत्मा न समझ लिया जाये। वास्तव में तो आत्मा का ही अध्यवसाय करना संन्यासी का कर्त्तव्य है। अनात्म-विचार संन्यासी का कर्त्तव्य नहीं। अनात्मा और आत्मा का विचार करके सचमुच आत्मा का क्या स्वरूप है इसका निश्चय करना ज्ञान है।

समाधि का अर्थ है चित्तवृत्ति की आत्मा पर एकाग्रता। आत्मा वह है जिसको मन विषय कर नहीं सकता। अत: आत्मा में समाहित करने का मतलब है आत्मविषय में जो निश्चय करने की प्रक्रिया है उसमें लगाना। आत्मा यदि मन का विषय होता तो जैसे भगवान् कृष्ण की मूर्ति देखकर हम वैसे ही कृष्ण का ध्यान कर लेते हैं ऐसे आत्मा का भी ध्यान कर लेते। परन्तु इस प्रकार का ध्यान नहीं होता क्योंकि आत्मा मन का विषय है ही नहीं। आत्मा के संबन्ध में निश्चय करने की प्रक्रिया पर एकाग्रता पूर्वक विचार के द्वारा ब्रह्माकार वृत्ति बना कर आत्मा का दर्शन होता है। यही आत्मा में मन का समाधान है। संन्यासी के लिए तप, श्रुति और ज्ञान नियमपूर्वक कर्तव्य हैं। अन्य कार्य करें, न करें, पर ये तो करने ही हैं। इन कार्यों के प्रतिपक्षी अर्थात् विघ्न हैं क्रोध, आक्रोश आदि। तप आदि नियमों को पालन नहीं करने देने

वाली चीजें हैं क्रोधादि। क्रोधादि करेंगे तो तप आदि नहीं हो पायेंगे। इसलिए ये उनके दूषण हैं, विघ्न हैं, ये आ जाने पर मनुष्य आत्मा के चिन्तन में नहीं रह सकता। क्रोधादि वृत्तियाँ इतनी प्रबल हो जाती हैं कि समझदार व्यक्ति भी इनके चलते आत्मचिन्तन नहीं कर सकते, क्रोधादि आने पर चित्त की एकाग्रता नहीं होती। मोक्ष की प्राप्ति में ये विघ्न हैं। जगह-जगह पुराणों के अन्दर यही आता है कि जो-जो आत्मा के विचार में लगते हैं उनके अन्दर ये विघ्न आ जाते हैं। क्यों आ जाते हैं? शास्त्रकार कहते हैं कि देवताओं को बिल्कुल अच्छा नहीं लगता कि मनुष्य इस आत्मतत्त्व को जानें। कारण यह है कि जो आत्मतत्त्व को जान लेता है उसके सामने देवताओं को थाली लेकर नौकर-चाकर की तरह खड़े रहना पड़ता है। क्या कोई चाहेगा कि उसके यहाँ झाड़ू देनेवाला उसी का मालिक बन जाये! ठीक इसी प्रकार अभी इस अविद्याकाल में जीव उन देवताओं को हमेशा मनाता रहता है। जब वह आत्मज्ञानी हो जाता है तब देवताओं को उसे भेंट-पूजा चढ़ानी पड़ती है। यह देवताओं को बिल्कुल प्रिय नहीं है अतः वे विघ्न करते रहते हैं।

बार-बार कथा आती है—अमुक ऋषि तप कर रहे थे तो इन्द्र ने अमुक अप्सरा भेजी। जैसा सुना गया था कि मुमुक्षुओं के सामने देवता विघ्न पैदा करते हैं वैसा ही विघ्न अब मेरे सामने भी आ गया है। लेकिन यह सफल कब होगा? यह चाहता है कि मैं प्रतिद्वेष आदि कर लूँ, तभी यह सफल होगा। इस दुर्जन ने जो दोष किया है, मेरे ऊपर जो लांछन लगाया, दुर्व्यवहार किया, इत्यादि, उसके द्वारा विक्षिप्त होकर मैं क्रोध कर लूँ तो यह विघ्न सफल हो जायेगा। यदि मेरे अन्दर प्रतिद्वेष अर्थात् विरोधी का नुकसान करने का भाव आये नहीं, तो जो देवताओं ने विघ्न किया है वह निष्फल हो जायेगा। अतः ऐसा नहीं है कि विरोधी के प्रति द्वेष न करके मैं अपना नुकसान कर रहा हूँ। लोग यही कहते हैं कि 'अगर कुछ नहीं करोगे तो दूसरा आदमी दबाता

चला जायेगा'। यही कारण बतलाया जाता है क्रोधादि जवाबी कार्यवाही करने के लिए। किन्तु विवेकी जानता है कि इहलोक के अस्थायी लाभों के लिए हमें दास ही बनाकर रखे रहेंगे। यदि मैं इस दुर्व्यवहारादि निमित्त के द्वारा रूषित, विचलित नहीं होकर क्षमा कर दूँ तो मैं मोक्ष को प्राप्त कर देवादि सबका मालिक बन कर बैठूँगा। इसको समझ कर के शम अर्थात् शान्ति के लिए धैर्य रखना चाहिए।

शान्त रहने के लिए सबसे जरूरी क्या है? धृति। जल्दबाज आदमी कभी आत्मज्ञान कर नहीं सकता। उसके लिए धैर्य की जरूरत है। मनु ने भी धर्मों में सबसे पहले 'धैर्य' को ही कहा क्योंकि जिसमें धैर्य नहीं होता वह साधारण धर्म का भी पालन नहीं कर सकता। जहाँ थोड़ा नुकसान सामने आया, वह अधीर हो जाता है। धृति के बिना दूसरे धर्म संभव ही नहीं हैं। मनु ने धृति के ठीक बाद क्षमा को बताया है। अत: उस क्षमा के पूर्व किसकी आवश्यकता है? धैर्य की। धैर्य तभी आता है जब हमें पता है कि यह थोड़े दिन का मामला है, ज़्यादा टिकेगा नहीं। अगर करोड़ों वर्षों की जिन्दगी होती तो इसमें सफलता आदि के बारे में सोचते भी। ज़्यादा से ज़्यादा कोई साल भर तक दु:खी कर सकता है, इससे ज़्यादा तो नहीं। इस अनन्तकाल में सौ साल की कीमत क्या है! कुछ भी नहीं। विचार करो, आज़ादी के बाद हल्ला करते पचास साल हो गये। सबने अधीर होकर हल्ला मचाया। हल्ला मचाने वालों में से आधे तो चले गये होंगे, आधे और पाँच-सात सालों में चले जायेंगे। इतना करके भी कुछ लाभ हुआ क्या? अगर धैर्य से बैठे रहें तो कुछ-न-कुछ अच्छा ही होगा क्योंकि अब तो सारा प्रयत्न छीना-झपटी में ही जा रहा है। इतना तो धैर्य रखें कि हमने सरकार को चुना, अब पाँच साल चुप बैठे रहें, जो सरकार करे सो करने दें और जब फल सामने आये तब अगली सरकार के चुनाव में सावधान बनें। परन्तु ऐसा हम करने को तैयार नहीं क्योंकि अधीर हैं। आज ही चुनाव हुआ और कल से हमने झगड़ा शुरू कर दिया

कि तुम ठीक काम नहीं कर रहे हो। अधीर तो विदेशी भी हैं पर इतना जरूर सोचते हैं कि इसको मौंका दिया है तो कुछ-न-कुछ काम करने दो। क्षमा के लिए धैर्य अतिआवश्यक है। लौकिक व्यवहार में धैर्य के बिना शान्ति नहीं हो सकती। अतः धैर्य को नहीं छोड़ना चाहिए। कोई कितना भी द्वेषादि करे, धैर्य-पूर्वक हमें क्रोध नहीं ही करना चाहिए।। ११।।

इतश्च दुर्जनदोषमारोपितः क्षमामेव कुर्यात्–

न चेदयं मां दुरितैर्विकम्पयेदहं यतेयं प्रशमाय नाधिकम्।
अतोऽतिलाभोऽयमिति प्रतर्कयेद्विचालरूढा हि भवन्ति निश्चलाः।। १२।।

न चेदयं दुर्जनो मां दुरितैः पापकर्मभिः आक्रोशपरिभवाद्यैर्विकम्पयेद्यदि नानाप्रकारेण चालयेदतोऽहं न यतेयं यत्नं न कुर्याम्। पूर्वप्रथमावस्थाया अधिकम् अभ्यधिकं प्रशमायोपशान्त्यर्थम्। विकम्प्यमानस्य तु पुनः पुनः दुर्जनैः मम यत्नोऽधिकतरः स्याच्छमे स्थिरीभाव इति। अतोऽतिलाभो लाभतरो मम दुर्जनपरिभवादि पालनं प्रायेणेत्येवं प्रतर्कयेद्विचिन्तयेद्विचाल्यरूढा विचालरूढाः प्रारोपितास्सन्तो ये स्थूणादयः स्थिरीभूता भवन्ति निश्चला हि यस्मान्तस्माच्च।।१२।।

दुश्चेष्टाओं से यह दुंजन मुझे विचलित करने का प्रयास न करे तो प्रशान्त रहने के लिये मैं भी अधिक यत्न नहीं करूंगा। अतः यह मेरा अत्यन्त लाभ कर रहा है क्योंकि हिला–हिलाकर ठोके गये खूँटे ही मजबूत होते हैं।

एक और भी कारण है कि क्षमा ही करनी चाहिए: जब दुर्जनों के द्वारा हमारे ऊपर आरोप लगाया जाता है तभी हमें अपनी स्थिरता मजबूत करने का मौका मिलता है। आरोपण का मतलब है कि जो चीज़ जहाँ नहीं है वहाँ उसे बताना या समझना। जहाँ जो चीज़ नहीं है वहाँ उस चीज़ को दो तरह से देखा जाता है–एक है जानबूझकर

वैसा देखना; जैसे सामने शालिग्राम की बटिया है। हम जानते हैं यह पत्थर है परन्तु हम उसे विष्णु मानकर पूजा करते हैं। पूजा करते समय हम उसके ऊपर 'यह विष्णु है' ऐसा आरोप करते हैं। हम जानते हैं कि यह पत्थर की बटिया है, विष्णु नहीं, फिर भी पूजा के समय हम उसको विष्णु की तरह देखने का प्रयत्न करते हैं। एक कागज़ का टुकड़ा है, उस पर रंग किया हुआ है। हमें पता है कि यह कागज़ का टुकड़ा है परन्तु हम आरोप करते हैं कि ये भगवान् राम हैं। वह आरोप इतना हो जाता है कि अगर कोई उस कागज़ का अपमान कर दे तो हमें भगवान् का अपमान लगता है। तब भी हमें पता है कि ये राम नहीं हैं, वास्तविकता जानते हैं। इसलिए शालिग्राम की बटिया टूट जाने पर कोई यह नहीं कहता कि विष्णु मर गये। उस चित्र के अकस्मात् फट जाने पर 'राम मर गये' ऐसी प्रतीति किसी को नहीं होती। इस प्रकार जानबूझकर हम एक चीज़ में दूसरी चीज़ का *आरोप* करते हैं।

अध्यास वहाँ होता है जहाँ हम सच्ची चीज़ को बिना जाने उस पर दूसरी चीज़ का आरोप करते हैं। जैसे रस्सी को हमने नहीं जाना और साँप देख रहे हैं। रस्सी के अज्ञान से वहाँ सर्प की प्रतीति है। तो जहाँ वस्तु को जानते हुए उसे अन्य कुछ समझा जाता है वह आरोप है। जहाँ वस्तु को बिना जाने उसे कोई और चीज़ समझा जाता है वहाँ अध्यास होता है। ब्रह्म में जगत् का अध्यास है। इसका मतलब यह नहीं कि शालिग्राम को विष्णु मानने की तरह हमने ब्रह्म को जगत् मान लिया वरन् यह है कि रस्सी को साँप समझने की तरह हमने ब्रह्म को जगत् समझ रखा है।

मैंने झूठ बोला नहीं पर बिना सच्चाई जाने ही तुमने कह दिया कि यह बात झूठी है: यहाँ मेरी सच्ची बात के अज्ञान से यह बात झूठी लगी। अज्ञान से होने वाले अध्यास में हमारा अपराध नहीं। अज्ञानरूप अपराध तो है, किन्तु वह जीवमात्र का अपराध होने से हमारा विशेष अपराध नहीं और उतने मात्र से हम दुर्जन नहीं हो जाते। परन्तु

जब हमें पता है कि तुमने सच्ची बात कही है पर तुम्हें नीचा दिखाने के लिए कहते हैं कि तुम झूठ बोल रहे हो, तब आरोप है और वह दुर्जनता का चिह्न है। दुर्जन जब सज्जन के दोषों का बखान करता है तब जानता है कि वह निर्दोष है, अत: वह दोषों का आरोप करता है, अध्यास नहीं। जब भूल से कोई आरोप लगता है तब उसे क्षमा करना कठिन नहीं है पर जब हमें मालूम है कि वह जानबूझकर दोष लगा रहा है तब क्षमा करना कठिन होता है। दुर्जन के द्वारा जब जानबूझकर आरोप लगाया जाता है तब भी साधक क्षमा ही करे।

खम्भा, कील आदि को मजबूत गाड़ने के लिए थोड़ा गाड़कर हिलाया जाता है, ढीला होने पर पुन: ठोकते हैं, ऐसा तब तक करते हैं जब तक हिलाने की कोशिश करने पर भी वह ढीला न पड़े, तभी वह स्थिर गड़ता है। संस्कृत में इसे स्थूणा-निखनन-न्याय कहते हैं। इसी प्रकार साधक में दैवी गुण स्थिर प्रतिष्ठित करने के लिए उन्हें विचलित होने का बार-बार मौका देना चाहिए और जब मौका मिलने पर भी विचलन न हो तभी उन्हें स्थिर समझना चाहिए, तब तक स्थिरता के लिए प्रयास करते ही रहना चाहिए। यदि जिनको मैं दुर्जन समझ रहा हूँ, वे इस प्रकार मेरे ऊपर दोषारोपण न करते, मुझे न हिलाते तो मैं शान्ति के लिए अधिक विचार भी न करता। इसलिए यह जो मेरे ऊपर दोषों का आरोप हो रहा है यह मेरा अतिलाभ करने वाला है। ऐसा विचार करना चाहिए, ऐसा भाव दृढ करना चाहिए। हमें यह नहीं समझना चाहिए कि यह आरोपादि दुर्व्यवहार हमारा नुकसान करने वाला है। जैसे खम्भे को हिलाने वाले को हम ग़लत नहीं समझते, इसी प्रकार 'दोषारोपण करके यह मुझे अधिक शान्त बना रहा है' यों दुष्टों को सही समझना चाहिए।

पहलवान दंगलों के बिना भी जोर करते रहते हैं, युद्ध न होने पर भी सैनिक अभ्यास करते रहते हैं तभी मौके पर कुश्ती के लिए तैयार रहते हैं या जब मोर्चे पर जाते हैं तो भली प्रकार से आक्रमण

करते हैं। ठीक इसी प्रकार किसी से व्यवहार करना भी एक अखाड़ा है। जो तुम्हारे साथ अच्छा व्यवहार कर रहा है वह तुम्हें परिश्रम नहीं करवा रहा है। परन्तु जो तुम्हारे साथ निकृष्ट व्यवहार कर रहा है वह तुमसे बार-बार शान्ति का अभ्यास कराकर तुम्हें दृढ बना रहा है। गीता में कहा– 'यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते', भयंकर से भयंकर दुःख आने पर भी तुम विचलित नहीं होगे। दुर्जन अपने व्यवहार द्वारा हमें शान्ति की तरफ प्रवृत्त करता है। यह दुर्जन है अतः मेरे साथ गाली-गलौज, मेरे को तिरस्कृत करना, नीचा दिखाना, आदि सभी पाप कर्म मेरे प्रति करता है। इस बेचारे को पाप करना पड़ रहा है मुझे मज़बूत करने के लिए। यह ऐसा नहीं होता तो मैं मज़बूत नहीं होता। मैं कोई मूर्ख नहीं कि मैं इसे सज्जन समझूँ पर इतना अवश्य है कि यह मेरे लिए लाभ का काम कर रहा है। अतः मेरे लिए तो हितकारी ही है। यदि यह मुझे यों विचलित न करता तो मैं भी शान्त रहने का इतना प्रयास न करता।

प्रायः ऐसा होता है कि सब कुछ समय पर, सुविधा से मिल रहा है– नहाने को गर्म पानी, पीने का पानी आदि सब समय पर मिल रहा है—तो आदमी शान्ति से साधन करता है और समझता है कि मेरे मन-इन्द्रियाँ शान्त हैं। किन्तु जैसे ही व्यवस्था में हेर-फेर होती है वैसे ही विक्षेप हो जाता है, विचलन हो जाता है, अशान्ति आ जाती है। तब पता चलता है कि कितनी शान्ति है! किन्तु अव्यवस्था आने पर साधक प्रयास करता है तो महीने भर में ठण्डे पानी से भी स्नान करने में सक्षम हो जाता है। अतः अव्यवस्था भी संयम बढ़ाने का उपाय बन जाती है। प्रतिकूल परिस्थिति आने पर अपनी स्थिति का पता लगता है। साधक स्थिरता बढ़ाने का प्रयत्न करता है, पर जो साधक नहीं है वह सोचता है कि 'इन सुविधाओं का इन्तज़ाम कर लिया जाए;' 'सुविधाओं के होने पर मैं चंचल न होऊँ'—यह समझने वाला सच में साधक नहीं है। वर्तमान जितनी प्रतिकूलता रहते शान्ति रख

सकता है, उससे ज्यादा प्रतिकूलता होने पर भी शान्ति रहे इसके लिए प्रयासशील ही साधक है। बल्कि किन्हीं एक-दो निमित्तों से अपनी स्थिरता भाँपकर वह और भी निमित्तों के विषय में सहिष्णुता बढ़ाने का अभ्यास करने लगता है। धीरे धीरे वह अधिकाधिक निर्भरता से निर्मुक्त हो पाता है। दुर्जन लोग बार-बार ऐसा आचरण करते हैं, मुझे सताते हैं, कि मैं हिलूँ और मैं हिल भी जाता हूँ। मुझे यत्न करके वह स्थिति पानी है जहाँ चाहे कितना बड़ा दुःख आ जाये, शरीर के छोटे-छोटे टुकड़े हो जाएँ, तब भी 'मैं चिन्मात्र हूँ, मैं कट नहीं रहा हूँ', यह निश्चय बना रहे। जैसे शरीर के बारे में, वैसा ही इन्द्रिय, मन, अहंकार पर्यन्त के बारे में। दुर्जनों का व्यवहार मुझे जब तक हिला पाता है तब तक मैं और भी यत्न करता हूँ, अपनी शान्ति के लिए पुनः पुनः अधिक प्रयत्न करता हूँ। साधक विपरीत परिस्थिति में शान्ति के लिए प्रयत्न करता है। जो साधक नहीं है वह वातावरण को स्थिर करके अपने को स्थिर करने की कोशिश करता है।

इसी आधार पर हम कहते हैं कि पाश्चात्य विचारधारा और हमारी विचारधारा में फ़र्क है। विवेकानन्द जी ने लिखा है कि भारत का आदर्श वह दिगम्बर महात्मा है जो हिमालय पर बिना वस्त्रों के रहता है। किसी चीज की उसको जरूरत नहीं है। पश्चिमी देशों के अन्दर जिसके पास जितने पदार्थ हैं, सुविधाएँ हैं, वही बड़ा आदमी है। पर भारतीय लोग उसको बड़ा आदमी नहीं मानते। यह बात विवेकानन्द जी ने सौ साल पहले कही थी। आज स्वयं अपने मन में पूछ लो कि हम किसको बड़ा आदमी मानते हैं—जो सुविधाओं के साथ जीता है या जो बिना सुविधाओं के ही जीवन चलाता है? कारवालों को 'बेकार' मानते हैं कि बिना कारवालों को? अशिक्षा और कुशिक्षा से भारतीय मानस में इतना बड़ा परिवर्तन आ गया है अतः सही शिक्षा से ही इस ग़लती को सुधार सकते हैं। शिक्षा का ही एक प्रकार इस ज्ञानांकुश में समझा रहे हैं।

आत्मकल्याण का इच्छुक द्वेषादि से बचे और समझे कि दुर्जनों के द्वारा जो मेरा अपमानादि होता है उसके द्वारा मेरा अधिक लाभ होता है। दुर्जन परिभवादि के द्वारा मेरा पालन करते हैं। जैसे जिसका पालन करते हो उसको खाद्य सामग्री आदि देते हो, जिससे वह पुष्ट बना रहे, इसी प्रकार दुर्जन मुझे परिभवादि, आक्रोशादि गाली आदि के द्वारा पुष्ट ही कर रहा है। जिस प्रकार दीखता तो है कि कील गड़ी है पर हिला कर, आरोप करके परीक्षा करते हैं कि गड़ी है या नहीं, ठीक इसी प्रकार मैं शान्त हूँ या नहीं इसे वह परिभवादि करके देखता है। ऐसा करते रहने पर शान्ति स्थिर हो जाती है। यही एकमात्र उपाय है कि जिससे शांत्यादि में निश्चलता हो पाती है। जो स्थिर दीख रहा है उस पर आरोप करके कि शायद यह स्थिर नहीं है, उसे हम स्थिर ही करते हैं। इसी प्रकार मेरे ऊपर दोषारोपण करके वह दुर्जन मुझे स्थिर ही कर रहा है। अत: दुर्जनों को क्षमा ही करना चाहिए क्योंकि वे लाभ कर रहे हैं।। १२।।

और भी एक कारण है कि दूसरे के द्वारा दोष लगाने पर भी रोष नहीं करना चाहिए: पहले के दो कारणों में बताया कि क्यों क्षमा करना चाहिए। यहाँ बताते हैं कि क्यों क्रोध नहीं करना चाहिए।

इतश्च परापकृतेनाऽपि रोषो न कर्तव्य: —

फलान्वितो धर्मयशोऽर्थनाशनस्स चेदपार्थ: स्वशरीरतापन:।
न चेह नामुत्र हिताय यस्सतां मनांसि रोषस्स समाश्रायेत् कथम्।।१३।।

फलान्वितो रोष:। अनन्तरभावि यत् कार्यं तद्रोषस्य फलं हिंसाक्रोशादि [तेषु] केनचिदन्वितोऽनुगत: फलेन संयुक्त इत्यर्थ:। फलान्वितो रोष: किं करिष्यति? उच्यते। धर्मयशोऽर्थनाशन: धर्मश्च यशश्चार्थश्च तं नाशयतीति धर्मयशोऽर्थनाशन:। प्रत्यक्षं परोपघातहिंसाक्रोशादौ रोषफलवति राजदण्डादिनार्थनाश:, साधुगर्हणाद्यशोनाशो, धर्मनाशश्शास्त्रतोऽवगम्यते।

स चेद्रोषोऽपार्थकः स्यात् स्वशरीरतापनः यथा कोटरे अन्योन्यसङ्घर्षणेनोत्थितोऽग्निः कोटरमेव दहति तथा रोषोऽपि फलरहितः स्वयमाश्रयं दहति। एवं [न] चेह नामुत्र हिताय हितार्थोऽयं ईदृशः खलु रोषस्सतां धर्मात्मनां मनांसि समाश्रयेत् कथं, न कथञ्चन साधूनां मनांसि रोषः समाश्रयितुमर्हतीत्यर्थः।।१३।।

यदि अपने प्रभावों द्वारा व्यक्त हो जाये तो धर्म कीर्ति और धन को नष्ट करता है तथा अगर बाहर प्रकट न हो पाये तो व्यक्ति के अपने ही शरीर को सन्ताप देता है। इहलोक व परलोक कहीं भी क्रोध हित नहीं करता। अतः सज्जनों के मन में क्रोध रहे ही क्यों?

किसी ने गाली दी, हमने तुरन्त उसे पीट दिया तो क्रोध फलान्वितो हो गया, सफल हो गया। उसका फल क्या है? धर्म का नाश तो करता ही है, यश का भी नाश करता है क्योंकि सभी भले आदमी कहेंगे 'अरे! यह तो गुण्डा है'। यदि तुम किसी की बुराई घूम-घूमकर करने लगो तो लोग यही कहेंगे कि 'देखो कैसा आदमी है! घूम-घूमकर सबकी बुराई करता है'। यश तुम्हारा ही जायेगा। और क्रोध के फलस्वरूप अर्थ भी चला जाता है। इसीलिए गीता में भगवान् ने स्पष्ट कहा कि काम, क्रोध और लोभ सीधा नरक की तरफ ले जाते हैं। नरक में जाने का मतलब ही है नष्ट होना। दूसरी तरफ, यदि तुम्हें गुस्सा आया पर तुम उसे पी गए, वह फलान्वित नहीं हुआ, तो शरीर में तरह-तरह के दुःख पैदा करेगा। परिस्थिति के अनुसार शरीर तैयारी करता है। जैसे जब भय होता है कि कोई शेर-भालू आदि आक्रमण करने वाला है, तब दो ही तरीके हैं—या हम उससे लड़ें या उससे डरकर भाग जाएँ। लड़ने और भागने, दोनों में शक्ति खर्च होती है। जैसे ही तुम्हें शेर दीखता है, भय ही हमें इतनी शक्ति देता है कि हम लड़ सकें। यदि तुम्हें भागना पड़ेगा तब भी तुम्हें टाँगों में शक्ति चाहिए। अतः जैसे ही कोई ऐसी भयावह स्थिति आती है, तुरन्त शरीर

में शक्ति आ जाती है। क्योंकि तब दो ही काम कर सकते हो–लड़ो या भागो, और दोनों के लिए शरीर को ही तैयारी करनी होगी। इसी तरह क्रोध आने पर शरीर तैयार होता है उसकी अभिव्यक्ति के लिए, चिल्लाना मारना-पीटना आदि करने के लिए शरीर में शक्ति चाहिए। किंतु परिस्थितिवश अगर हम व्यक्त करते नहीं तो वह शक्ति शरीर को ही तपा देती है। भय क्रोधादि की स्थिति आती है और हम न तो लड़ते हैं न भागते हैं, तब वह क्रोध सारे शरीर में रोग फैला देगा। अत: उपाय बताते हैं कि ऐसी दशा में व्यक्ति घूमने चला जाये या और कोई श्रम का कार्य करने लगे ताकि वह बढ़ी हुई शक्ति खर्च हो जाये, शरीर को न जलाये। आज की प्राय: परिस्थिति में क्रोध को व्यक्त कर पाना संभव नहीं है अत: क्रोध के निमित्त उत्पन्न ऊर्जा व्यय कर देना आवश्यक है अन्यथा शरीर ही विकृत होगा। जब लंबी सैर को निकलोगे तो वह ऊर्जा काम आजाएगी अत: रोग से बच जाओगे। शरीर से अनेक स्राव होते हैं, भय-शोकादि के मौके पर तत्तत् स्राव काम करने लगते हैं। गुस्सा आया पर उसे पी लिया तो वे सारे स्राव तुम्हारे शरीर को जरूर नुकसान पहुँचायेंगे। इस प्रकार यदि हमने क्रोध को सफल किया तो वह धर्म अर्थ यश का नाश करेगा और यदि हमने उस क्रोध को पी लिया, तो वह शरीर में ताप पैदा करेगा। इसलिए गुस्से को सफल करो तो अहित, न करो तो अहित। ऐसी चीज़ को आने ही क्यों देना? क्रोध इस लोक का भी नाशक है और परलोक में भी लाभ देने वाला नहीं है। जो सत्पुरुष अर्थात् परमात्मा में अपनी स्थिति रखने वाले, सद्ब्रह्म में रहने वाले हैं, उन्हें क्रोध को आश्रय नहीं ही देना चाहिए। चाहे किसी ने हमारा कुछ भी नुकसान किया हो, हमें बदले में रोष, क्रोध नहीं ही करना उचित है। क्योंकि क्रोध व्यक्त और अव्यक्त दोनों हालतों में हमारा ही नुकसान करेगा अत: रोष नहीं करना चाहिए। दण्ड देने और रोष करने में फ़र्क है। किसी की गलती का निश्चय कर उसे अनुरूप दण्ड देना तो शान्ति से भी

सम्भव है जैसा न्यायाधीश देता है। वह नुकसान का हेतु नहीं बनता। पर गुस्सा, चिन्ता, भय करने का क्या प्रयोजन? रोषादि को तो मन में आश्रय देना ही नहीं है। परिस्थिति पर विचार कर उचित कर्तव्य करना चाहिए। क्रोध ऐसी चीज़ है जो निष्फल हो तब भी खराब, सफल हो तब भी खराब। जो चीज़ दोनों ही तरफ से नुकसानदायक हो, कोई भी बुद्धिमान् उसे अच्छा नहीं मान सकता।

रोष का फल वही है जो रोष के तुरन्त बाद पैदा हो। वह फल है हिंसा, आक्रोशादि। या हिंसा करोगे, जिसको अपना अपकारी समझते हो उसे जान से भी मार डालोगे। या मारपीट करोगे, उसकी सम्पत्ति जला दोगे, उसके पत्नी-पुत्रों का भी नुकसान कर दोगे। अथवा आक्रोश—उसको गाली दे दोगे, दस आदमियों के सामने बुराई कर दोगे, अथवा दूसरे लोगों से ऐसा करवाने का प्रयत्न करोगे, उसकी नौकरी आदि छूट जाए, ऐसा प्रयत्न करोगे। किसी के द्वारा हमारा अपकार करने पर जो रोष आता है वह यदि सफल हो गया तो हिंसा, आक्रोश आदि होंगे। चेतन इन सब भावों से रहित है परन्तु अंतःकरण से लेकर शरीरपर्यन्त उपाधि को अपना स्वरूप मानने से 'मैं करने वाला'— ऐसा अभिमान अपने में इन चीज़ों की प्रतीति करा देता है। ऐसा क्यों हुआ? रोष के कारण। मैंने मन के द्वारा सोचकर जीभ के द्वारा गाली दी, उसको बुरा-भला कहा। 'मैं' तो गाली दे नहीं सकता। कहा तो जीभ, गला आदि ने, परन्तु उनके साथ मेरा तादात्म्य संबन्ध है कि 'यह मैं हूँ', इसीलिए उनके द्वारा यह जो घृणित कार्य हुआ उससे 'मैं' सम्बद्ध हो गया, अनुबद्ध हो गया। अथवा मैंने उसको हाथ-पैर से मारा। यहाँ भी हाथ पैर के साथ तादात्म्य अध्यास होने के कारण निश्चय होता है कि मैंने ही मारा। इस प्रकार अध्यास के द्वारा मैं अपने को हिंसा आदि क्रूर चीज़ों के साथ संबन्धित कर लेता हूँ। रोष का फल क्या है? मैंने अपने चेतन के ऊपर अत्यन्त दुर्व्यवहारों का आरोप किया। मैं ही मारने वाला, गाली देने वाला बन गया। अतः सफल हुआ क्रोध,

धर्म, यश, अर्थ तीनों का नाश करता है।

तीनों में जो अन्तिम अर्थनाश है, उसे पहले कहते हैं क्योंकि स्थूल बुद्धिवाला अर्थ को ही महत्ता देता है, यश या धर्म को नहीं। स्थूल बुद्धि वाले को बदनामी की चिन्ता नहीं होती, वह तो अर्थनाश को ही मुख्य नाश समझता है। राजा दिलीप के कोई सन्तति नहीं हो रही थी। वे अपने गुरु वशिष्ठ के पास गये और बड़ी प्रार्थना की कि 'मेरे एक पुत्र हो जाए'। ऐसी प्रार्थना की जाती है तो उसका अर्थ होता है योग्य पुत्र की उत्पत्ति होवे। अन्यथा, बेटा-बेटी तो औषधि आदि उपायों से भी पैदा होते हैं। तरह-तरह के साधन पुत्रोत्पत्ति के आज भी प्रचलित हैं। प्राचीन काल में भी आयुर्वेद में प्रचलित थे। परन्तु गुरु, देवता आदि के संमुख कामना की जाती है तो केवल सन्तति की कामना नहीं की जाती। 'पुत्र' शब्द का अर्थ है पुं अर्थात् नरक से जो त्राण करे, बचाये। अन्यथा सन्तति तो मनुष्य को नरक में जाने का दृढ उपाय भी कर देती है। ऐसा चीज़ों को करने के लिए हाय-तौबा मचाती है कि मनुष्य नहीं चाहता तो भी गलत कार्य कर बैठता है। जन्मभर जिसने गलत काम नहीं किया वह पुत्र के कहने से गलत कर देता है। एक हमारे परिचित सज्जन थे। बहुत बड़े आदमी थे पर उन्होंने कभी किसी से किसी चीज़ की कामना, याचना नहीं की। स्वाभाविक है कि ऐसे लोगों पर अन्य लोगों की बड़ी श्रद्धा होती है कि वह कभी भी अपने लिए कोई काम नहीं कहता। जब उनका पुत्र बड़ा हुआ तब उसने विदेशों से जो चीजें नहीं मँगानी चाहिए उन्हें छिपकर मंगाकर बेच देने का धन्धा किया और उस मामले में पकड़ा गया। उसको दण्ड-स्वरूप आजीवन जेल की सजा होनी थी क्योंकि उसने ऐसे आयुध लाने का काम किया था जो खतरनाक थे। उस मामले की सुनवाई करने वाला जज उस सज्जन का बड़ा नज़दीकी व्यक्ति था। पुत्र ने माँ से कहा। माँ पति के पीछे पड़ गई कि 'गलती हो गई तो हो गई आखिर तो बेटा है। सजा हो जाए पर आजीवन कारावास की सजा न होवे'। लड़का भी

बाप के सामने रोता था। इतने दबाव के चलते उससे रहा न गया। वह जज के पास चला गया। थोड़ी देर इधर–उधर की बात करने के पश्चात् कहा कि 'मेरे लड़के का मुकदमा आपके पास है'। जज ने ऊपर से नीचे तक देखा, कहा कि 'आप इस प्रकार के गलत कार्य के लिए मेरे पास आए हैं: उन आयुधों से कितने लोगों की जान जाती, नुकसान होता, उसकी तरफ आपका ध्यान नहीं गया, सिर्फ अपने लड़के के विषय में ही सोच रहे हैं? मैं तो आपको कुछ और समझता था। पर अब आप आये हैं तो आपका काम कर दूँगा'। बड़ा दुःख हुआ उन सज्जन को, घर आकर पत्नी के सामने फूट-फूटकर रोने लगे कि 'मेरी बड़ी फजीहत करवा दी'। अपने पुत्र के कुकृत्य और उससे हुई खुद की फजीहत के कारण वह व्यक्ति इतना दुःखी हुआ कि खाना-पीना भी छोड़ दिया और छः महीने में मर गया। ऐसे लोग *बेटे* तो पैदा करते हैं, पर *पुत्र* पैदा नहीं करते। पुत्र तो धार्मिक कृत्यों से ही पैदा होते हैं। अधार्मिक तरीके से ऐसे ही बेटे पैदा होते हैं।

दिलीप को ऐसे पुत्र की इच्छा थी जो नरक से त्राण करे, न कि नरक में डाले। वशिष्ठ जी ने कहा 'यह नन्दिनी है, कामधेनु की पुत्री। ब्रह्मा जी द्वारा मुझे दी गयी है। यह सब कुछ देने में समर्थ है। तुम इसकी सेवा करो। रोज इसे ले जाकर स्नान कराओ। घास चराओ। चारा, खली बिनौला मिलाकर इसका भोजन बनाओ। यही प्रसन्न होकर तुम्हें पुत्र देगी'। वशिष्ठ जी समझ गये थे कि इसके जो पुत्र-प्राप्ति में प्रतिबन्धक है वह गौ-सेवा से ही दूर होगा। अलग-अलग कर्मों के अलग-अलग फल हैं, उन्हें रोकने वाले अलग-अलग प्रतिबन्धक हैं, उनको हटाने के लिए अलग–अलग साधन बताये हैं। कोई भी साधन ऐसा नहीं है जो अत्यन्त विरोधी चीज़ों को प्राप्त कराने वाला हो जाए। इसलिए काम्य कर्मों को बड़े विचारपूर्वक करना चाहिए। एक फल की उत्पत्ति के लिए शास्त्रों में कई साधनों को बताया गया है। प्रायः लोग समझते हैं कि ये विकल्प हैं। पर वास्तविक स्थिति यह है कि क्या

प्रतिबन्धक है यह जानकर तदनुरूप उपाय करने से ही साफल्य होता है अर्थात् सबके लिए सब विकल्प नहीं वरन् अधिकारी के फ़र्क से विकल्प हैं। कठिन कार्य पता लगाना है कि रुकावट क्या है। रुकावट के ज्ञान के बिना यदि कोई काम किया जायेगा तो उसकी सफलता निर्णित नहीं होती। यह बात दूसरी है कि जो भी शुभकर्म किया जाता है वह कभी-न-कभी तो फल देगा ही। परन्तु जो इस प्रकार के काम्य कर्म करते हैं उनको तो यहीं फल की इच्छा होती है। इस इच्छा से कोई कर्म नहीं करता कि अगले जन्म में पुत्र या धन मिले! अत: क्या रुकावट है इसका पता लगाया जाता है, फिर रुकावट को दूर करने वाले कर्म को करवाया जाता है, फिर उससे फल की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार दिव्य दृष्टि से वशिष्ठ जी ने दिलीप के लिए गो-सेवा का साधन ढूँढा। दिलीप ने गाय की सेवा आरम्भ की। जैसे ही सूर्योदय होता वह गाय को चराने के लिए ले जाता और जब तक सूर्यास्त न हो जाता तब तक गाय को चराता। वापस आने पर चरी, खली द्वारा उसका भोजन तैयार करता। चक्रवर्ती होने के बावजूद गुरु और शास्त्र में निष्ठा होने के कारण इस प्रकार का कार्य वह करने लगा। वर्तमान काल में जैसे ही कर्म की कठिनाई का पता चलता है वैसे ही लोग कहते हैं 'महाराज! किसी पण्डित आदि से करवा लेवें?' अर्थात् हमें न करना पड़े, पुरोहित कर लेगा। परन्तु जो कर्म यजमान के द्वारा किए जाने चाहिए उन्हें उसे ही करना पड़ेगा। उनके लिए भी लोग कह देते हैं कि 'पण्डित जी, आप ही कर लेवें तो अच्छा है। सवेरे सात बजें कहाँ मैं नहाकर आऊँगा!' पण्डितजी बेचारे क्या करें! यदि दिलीप आज का व्यक्ति होता तो तुरन्त राजधानी से दस नौकरों को बुलवाकर लगा देता कि गाय की सेवा करो। परन्तु ऐसा उन्होंने नहीं किया। हाथ में लकुटि लेकर रोज जाते और गाय की रक्षा, सेवा करते रहे।

ऐसा करते हुए काफी लम्बा समय बीत गया। नन्दिनी भी दैवी गाय थी, उसे जब मालूम चल गया कि राजा का प्रतिबन्धक हट गया

और उसे पुत्र की प्राप्ति होने को है, तब राजा की निष्ठा की परीक्षार्थ उसने एक खेल किया। एक दिन नन्दिनी चल रही थी। शान्त वातावरण था। दिलीप ने सोचा कि थोड़ा लेट लूँ। लेटे-लेटे गाय की बात सोचने लगे। अचानक नन्दिनी की वेदनाभरी आवाज आई। सुनते ही दिलीप ने अपना धनुष-बाण साधा और जिधर से आवाज़ आ रही थी उधर चल पड़े कि नन्दिनी का कोई नुकसान करे उसके पहले मैं पहुँच जाऊँ। देखा कि एक शेर नन्दिनी के ऊपर अपना पंजा रखे हुए है। झट से बाण का संधान किया और सोचा कि 'इससे पहले कि यह नन्दिनी को मारे, मैं उसको मार दूँ' परन्तु धनुष-बाण हाथ में रह गया और दिलीप उसे चला नहीं सके, जिसको कहते हैं 'हाथ पत्थर के हो गये'। जैसे पत्थर का हाथ कुछ करता नहीं है वैसे ही उसका भी हो गया। विचार करने लगा कि क्या करे। शेर तब मनुष्य की आवाज में बोला 'हे राजा! जो तू श्रम कर रहा है इसे छोड़ दे क्योंकि तू यह श्रम नहीं कर सकेगा। मैं कोई साधारण शेर नहीं हूँ कि तू मुझे अपने बाणों से डरा दे, मैं तो वह शेर हूँ जिस शेर के ऊपर भगवान् शंकर अपना पैर रखकर वृषभ पर चढ़ते हैं।' दिलीप ने कहा 'फिर तुम भगवान् शंकर को छोड़कर यहाँ क्या कर रहे हो? वहाँ जाओ।' शेर ने कहा—'यह सामने जो देवदारु का पेड़ देख रहे हो, यह सामान्य नहीं है। भगवान् शंकर ने इस देवदारु को अपना पुत्र बना लिया है'। भगवान् शंकर ने देवदारु को अपना पुत्र क्यों बनाया? जब कार्तिक स्वामी पैदा हुए थे तब पार्वती के स्तनों से इतना दूध आता था कि छः मुखों से कार्तिक स्वामी दूध पी लेते थे, तब भी वह खत्म नहीं होता था। आजकल बच्चा पैदा होता है तो लोग झट जाकर काँच की बोतल खरीदते हैं। दूध का एक टिन भी खरीदते हैं और पानी में घोलकर उसको पिलाते हैं। पूछें कि 'यह क्यों पिलाते हैं?' तो कहते हैं कि 'मेरे तो दूध आता ही नहीं है'। दूध आए भी कैसे! उसको लाने वाली चीज तो प्रेम है। पार्वती जी को कार्तिक स्वामी से इतना प्रेम था कि बहुत दूध आता

था। उस दूध के भार को वे सहन नहीं कर सकती थीं तो जाकर उस पेड़ के मूल में सिंचन कर देती थीं। एक बार भगवान् शंकर ने देखा। पूछा 'क्या कर रही हो?' पार्वती जी ने कहा कि 'क्या करूँ महाराज! अपनी छाती को हल्का कर रही हूँ।' भगवान् ने कहा 'अरे! यह तो गजब हो गया। तूने इसको इतना दूध पिलाया, यह तो निश्चित रूप से मेरा पुत्र हो गया।' इस प्रकार भगवान् वृषभध्वज ने इस देवदारु को अपना पुत्र बनाया। सिंह ने बताया, 'जब भी इधर से निकलते थे तो इस पर हाथ फेर कर जाते थे। एक बार इधर से एक हाथी जा रहा था। हाथी को खुजली आई तो उसने बड़ी तेजी से इसी वृक्ष पर अपना गण्डस्थल रगड़ा। कुछ दिन बाद भगवान् शंकर ने देखा कि उस पेड़ के तने की छाल कुछ हट गयी है और उससे पानी का स्राव हो गया है। जैसे अपने बच्चे को कुछ हो जाता है तो सहन नहीं होता और कुछ इंतजाम करते हैं वैसे भगवान् शंकर ने मुझे आज्ञा दी कि 'तू यहीं रह और जंगली प्राणियों से इस देवदारु की रक्षा कर'। जंगली प्राणी शेर से ही डरते हैं। अत: मैं शेर का रूप धारण कर यहाँ रहता हूँ, इस देवदारु की रक्षा करता हूँ। जब मैंने शेर का रूप धारण किया था तब पूछा 'मेरे खाने की व्यवस्था क्या होगी?' भगवान् शंकर ने कहा 'जो भी प्राणी इस क्षेत्र के अन्दर आ जाएगा उसको खाने का तुम्हें अधिकार है'। यह गाय मेरे क्षेत्र में आ गई है अत: मैं इसको खाऊँगा। तू अब कोई श्रम न कर। अब कुछ नहीं होगा।

दिलीप ने कहा 'अगर जो प्राणी आ जाए उसी को खाने की व्यवस्था है तो मैं भी खड़ा हूँ, मुझे ही खा लो, इस गाय को छोड़ दो।' यह कहकर दिलीप नतमस्तक होकर खड़े हो गए। शेर समझाने लगा 'गुरु जी की एक गाय मरेगी तो क्या हुआ, तुम दस गाय और दे देना। संसार में सबसे दुर्लभ अपना शरीर है। गायें तो बहुत मिलेंगी, स्वल्प मूल्य की चीज़ों के लिए तू बहुमूल्य शरीर छोड़ने की अविचारपूर्ण चेष्टा क्यों कर रहा है?' स्थूल बुद्धिवाला तो झट से समझ जाता कि

शेर यह ठीक कह रहा है पर दिलीप सूक्ष्म बुद्धि वाला था, विवेकपूर्वक विचार करके बोला 'तुमको मेरे शरीर पर दया है यह अच्छी बात है लेकिन अगर शरीर ही बचाना है तो मेरे यशरूपी शरीर को बचाओ। हमेशा के लिए मेरी बदनामी हो जाएगी कि 'चक्रवर्ती राजा दिलीप अपने गुरु की गाय की रक्षा नहीं कर सका। बिल्कुल ही कमज़ोर राजा हुआ', ऐसा ही इतिहास में कहा जाएगा। मेरे यश को न समाप्त करो, यह स्थूल नश्वर शरीर समाप्त हो जाए तो कोई बात नहीं'। यह कहकर वह सिर झुकाकर खड़ा हो गया। अकस्मात् उसने आकाशवाणी सुनी –'राजन्! तेरी कामना पूर्ण होने का समय आ गया है। तू मेरे दूध ा को दुह कर ले जा, पी ले, तुझे संतति प्राप्त हो जाएगी'। राजा ने तुरन्त ऊपर देखा तो न वहाँ शेर था, न कोई और था बस वहाँ नन्दिनी ही राजा को दयाभरी दृष्टि से प्रसन्न होकर देख रही थी। राजा समझ गये कि यह सब नन्दिनी ने केवल परीक्षा के लिए माया रची थी। वापस आश्रम पहुँचा तो नन्दिनी को देखते ही वशिष्ठ समझ गये, उन्होंने कहा 'राजन्! नन्दिनी ने तेरी कामना पूर्ण कर दी, उत्तम पुत्र उत्पन्न होगा'। उसी गाय की सेवा के प्रभाव से दिलीप के रघु उत्पन्न हुएं जो इतने यशवाले हुए कि कभी भी उस कुल को रामकुल नहीं बल्कि रघुकुल ही कहा गया क्योंकि उसका प्रताप ही इतना था।

स्थूल बुद्धिवाला अर्थनाश को ही नाश समझता है। उससे सूक्ष्म बुद्धिवाला यशनाश को नाश समझता है और उससे भी सूक्ष्म बुद्धिवाला धर्मनाश को ही नाश समझता है। सारा धन, यश चला जाए, परन्तु वह धर्म के पथ को नहीं छोड़ता है। यहाँ सूक्ष्मतम बुद्धि की हानि पहले कही धर्मनाश बताकर, फिर क्रमशः सूक्ष्म और स्थूल बुद्धि वालों की यश और धन की हानि बताई। गुस्सा सफल अर्थात् प्रकट होगा तो दूसरे को मारोगे, उसके पत्नी, पुत्र, सम्पत्ति आदि को नष्ट करोगे तो तुम पर राजदण्ड पड़ेगा जिससे तुम्हारा अर्थनाश निश्चित है। गुस्से का यह दुष्फल प्रत्यक्ष दिखाई देता है, कल्पना करने की जरूरत नहीं।

इसी प्रकार रोष करने पर साधु पुरुष निन्दा करते हैं कि 'यह कैसा आदमी है, इसने ऐसा कर दिया।' जब सज्जन पुरुष भर्त्सना करेंगे तब दूसरे भी यही कहेंगे कि वह अच्छा आदमी नहीं है। इस तरह यश नष्ट हो जाता है। असाधु पुरुष यश की महत्ता नहीं समझते। वे कहते हैं कि भले आदमी हमारी निन्दा करें तो हर्ज़ा ही क्या है? यश का नाश सूक्ष्म है, पर उसका फल प्रत्यक्ष है। एक समय था, जवाहर लाल नेहरू बस कह देते थे कि 'मैं प्रधानमंत्रित्व छोड़ दूँगा' तो सब हाथ जोड़कर सामने खड़े हो जाते थे कि नहीं-नहीं ऐसा न करें। यश के कारण ऐसा था। फिर स्थिती ऐसी आई कि काँग्रेस पार्टी ने ही फैसला किया कि नेहरू जी अमुक बात नहीं मान रहे हैं तो इनके विरोध में अविश्वास प्रस्ताव पारित कर इनको प्रधानमंत्री पद से हटाएँगे। सत्यनारायण सिन्हा का बड़ा वर्चस्व था। उन्होंने जाकर नेहरू जी को कहा 'कल हम अविश्वास प्रस्ताव लायेंगे। अभी भी समय है आप अमुक बात मान जाओ'। पहले तो नेहरू जी ने उसको डाँटा, फिर वे समझ गये कि अमुक बात माननी ही पड़ेगी नहीं तो पद छोड़ना होगा। यह है यशनाश का प्रभाव।

धर्म के नाश का तो न प्रत्यक्ष से पता लगता है न ही अनुमान किया जा सकता है क्योंकि धर्म का ज्ञान बिना शास्त्र के होता नहीं। शास्त्रों ने जो करने का विधान किया है वह धर्म है। शास्त्र ने जिसकी गर्हणा, निन्दा की है वह अधर्म है। धर्म-अधर्म में अपने सोचने से निर्णय नहीं होता पर वर्तमान काल में लोग कहते हैं कि धर्म हमारी समझ के अनुसार होना चाहिए, हमें लगना चाहिए कि यह धर्म है। बहुत-से लोग कल्पना करते हैं कि विज्ञान कैसा होना चाहिए। लेकिन हमारी सोच के अनुसार विज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि वह निर्भर करता है इस पर कि प्रकृति है कैसी और हमारे साधन कैसे हैं। हम जितना ही सोच लें कि अकाल, बाढ़, भूकम्प ये बिना पूर्वसूचना के न आयें, पर वे तो अपने नियम से ही आते रहेंगे। जैसे हम विज्ञान के नियम

को जान तो सकते हैं पर उनको अपनी बुद्धि से बदल नहीं सकते, इसी प्रकार धर्म के ज्ञान के लिए शास्त्र जो कहता है उसे समझ सकते हैं, वह कभी हमारी बुद्धि के अनुकूल होता है, कभी नहीं भी होता है, लेकिन धर्म तो वही रहेगा। शास्त्र के द्वारा पता चलता है कि परोपघात, हिंसा, आक्रोशादि से धर्म का नाश होता है। इस प्रकार यदि हमारा क्रोध फलीभूत हो गया तो अर्थ, यश, धर्म—तीनों चीजों को नुकसान पहुँचायेगा।

यदि क्रोध फलीभूत नहीं हुआ अर्थात् हिंसा, आक्रोशादि को व्यक्त नहीं कर सका, तब क्या होता है? कई बार सामने वाले में शारीरिक बल ज्यादा होता है। तुम्हें क्रोध आया तो भी तुम कुछ नहीं कर सकते, उसकी हानि नहीं कर सकते। तब क्या होता है? अपने ही क्रोध के प्रभाव से अपने ही शरीर में कष्ट होता है। जो लोग गुस्से में बकबक करते हैं उनको तो फिर शरीर का कष्ट नहीं होता पर जो कुछ भी नहीं कर पाते उनको बहुत कष्ट होता है। पेड़ के अन्दर गड्ढा हो जाता है, कोटर बन जाता है। जब हवा तेज चलती है तो लकड़ियाँ आपस में रगड़ जाती हैं और कोटर में आग लग जाती है। अगर बाहर आग लगती है तो प्रायः हवा आदि से बुझ जाती है। कोटर में चूँकि हवा नहीं लगती इसलिए वहाँ जल्दी आग बुझ नहीं पाती है, कोटर में ही दहकती रहती है। इसी प्रकार हमारे शरीर के अन्दर मन की वृत्तियों के संघर्ष से क्रोध उत्पन्न हो जाता है। कभी एक बात से क्रोध नहीं आता। रोष के लिए तो एक के बाद एक बातों में संघर्ष आना चाहिए। इसलिए आदमी को क्रोध दिलाने के लिए उसको अनेक बातें याद दिलाते हैं, 'याद कर उसने ऐसा किया था, उसने ऐसा कहा था'। यों कई बातों के संघर्ष से रोष पैदा होता है। शरीर हो गया कोटर की जगह और उसके अन्दर स्मृति प्रवाह की हवा से क्रोधाग्नि दहकती है। हर ज्ञान अपने से सम्बद्ध अनुभवों को याद दिला सकता है। जिसने हमारी आज हानि करी उसके पूर्वकृत्य भी याद आते हैं जो हमारे लिए

हानिकर हुए थे और यों अनेक स्मृतियाँ एकत्र होकर क्रोध को उद्दीप्त करती हैं। वह क्रोध सफल अर्थात् व्यक्त हो सका तो धर्मादि को नष्ट करता है और विफल रह गया तो जिसे क्रोध आया उसी को जलाता है। इसलिए प्राय: देखा गया है कि जब आदमी को गुस्सा आता है तो तमतमा जाता है, गाल लाल हो जाते हैं, आँखों में लालिमा आ जाती है। जहाँ क्रोध पैदा हुआ है उसी को जलाता है। क्रोध या दूसरे को जलायेगा, या अपने आश्रय को जलायेगा, पर जलायेगा ज़रूर। इस प्रकार क्रोध से इहलोक में भी लाभ नहीं है, न ही आगे कोई फायदा है। किसी भी तरह से यह क्रोध हमें लाभ नहीं दे सकता।

अतएव सज्जन कभी क्रोध को प्रश्रय नहीं देते। अधर्मी सोचता है कि 'आज मैंने इसका नाश किया, कल उसको मारूँगा' आदि। अधर्मी कभी भी रोष को गलत नहीं समझते। धर्मात्मा विचार करते हैं कि क्या उचित है क्या अनुचित है। जो स्वयं का दृष्ट फायदा ही देखता है वह धर्मात्मा नहीं होता। धर्मात्मा बनने के लिए तो सचमुच हमारे *हित* के लिए क्या चीज़ है यह सोचना पड़ता है। जो तुनक मिजाज होते हैं वे झट से प्रतिक्रिया करते हैं, वे धृतिहीन होते हैं। मनु ने धर्म का सबसे पहला लक्षण बताया है धृति। सत्पुरुष के लिए यह संभव नहीं कि समझ-बूझकर अपना अहित करे। क्रोध दोनों तरफ से अपना अहित है–क्रोध सफल हुआ तो धर्मादि की हानि होगी और असफल हुआ तो शरीर की हानि होगी। अत: वह सर्वथा हेय है।।१३।।

अवश्यलभ्यं यदि यत् स्वकर्मजं करोति दु:खं मम तद् द्विषज्जन:।
तदूनतायामहितस्समाहितो लघूकरिष्यन् गुरुभारमाहितम्।।१४।।

किंच–अवश्यलभ्यं यदि यत् स्वकर्मजं फलं तदेव हिंसाक्रोशादि करोति मम तद् द्विषज्जन: द्वेष्टा, न हि मया खल्वकृतस्य कर्मण: फलं प्राप्तुं शक्यम् किञ्चिद्धिंसादिलक्षणं, तस्मान्ममैव पूर्वकृतस्य पापभारस्य,

तदूनतायां तस्य कर्मभारस्य क्षयनिमित्तमहित: समाहितोऽभियुक्तो हिंसाक्रोशादि च वा प्रयुञ्जान उपकार्येव। किमिव? लघूकरिष्यन् गुरुभारं शिरस्याहितमिव।।१४।।

और भी एक विचार बताते हैं कि असद्व्यवहार करने वाला हमारा हितैषी कैसे है: द्वेषी पुरुष मेरे प्रति वही हिंसादि करता है जो मेरे कर्मों के प्रभाव से मुझे अवश्य मिलने हैं अत: मेरे पूर्वार्जित पाप-भार को वह हल्का ही कर रहा है।

जब हमारा पापकर्म सामने आने वाला होगा तब दु:ख होगा ही और जब हमारा पुण्य सामने आने वाला होगा तब सुख होगा ही। इसलिए शास्त्र ने यही बतलाया है कि सुख-दु:ख का कारण तो पुण्य और पाप ही हैं। कैसी भी सुख देने वाली चीजें हों, वे सुख देने के लिए अनेक दूसरी चीज़ों की अपेक्षा करती हैं हर तरह से अच्छी वस्तु से भी जब सुख नहीं मिलना होगा तब वह वस्तु अपने पास होते हुए भी ऐसी परिस्थिति बन जायेगी की सुख ले ही नहीं पायेंगे। बढ़िया चाय पीने लगो तो प्याला यों हिल जाता है कि गर्म चाय जाँघ पर गिर कर फफोला और पड़ जाता है! तुम तो चाय पीने ही वाले थे और फफोले पड़ गये। अनेक परिस्थितियों के एक साथ ठीक होने से ही किसी चीज से सुख होगा। सब परिस्थितियों को ठीक बनाने में तुम सक्षम नहीं हो; कभी बिजली गुल हो जायेगी, कभी यंत्र खराब हो जायेगा, कभी सामग्री गलत आ जायेगी इत्यादि अनेक संभावनायें रहती हैं जिन सब को नियंत्रित करने की कोशिश करो तो उसी में उलझे रहोगे, सुख ले ही नहीं पाओगे! कौन-सा कारण कब बिगड़ जाएगा—कुछ पता नहीं। जब इस बात पर देर तक आदमी विचार करता है तब उसे समझ में आता है कि सुख का कारण कोई और नहीं। जितने भी दृष्ट कारण हैं, सब गड़बड़ हो जाते हैं अत: सुखका कारण अदृष्ट है।

एक बात याद रखना कि कार्य-कारणभाव मानकर चलना होगा तभी विचार और व्यवहार चलेगा। कार्यकारणभाव नहीं है—यह समझ आ जाये तो क्रोध, द्वेष आदि दुर्भाव आ ही नहीं सकते। जब हम अपने दुःख का कारण दुर्जन को मान रहे हैं तब हम कार्यकारणभाव में बंधे हुए ही हैं। अतः निर्णय करना पड़ेगा कि हमारे दुःख का कारण है क्या? क्या दुर्जन कारण है या हमारा ही पाप कारण है? सूक्ष्म विचार से पता चलता है कि पाप ही कारण है क्योंकि दुर्जन न रहने पर भी दुःख हो जाता है और दुर्जन रहते भी सुख बना रहता है। आजकल लोग 'चांस' शब्द से एक अस्पष्ट बात व्यक्त करते हैं। 'चांस' क्या है? अगर मतलब है कि 'चांस' से होना अर्थात् बिना कारण हो जाना तो अन्यत्र हम क्यों कारण मानना चाहते हैं? होता यह है कि हम पाला बदलते रहते हैं; कार्य सफल हो गया तो कारण कहते हैं अपनी मेहनत को और कार्य नहीं हो पाया तो हेतु देते हैं 'चांस' को! विवेकी यह भूल नहीं करता। वह मानता है कि सुख-दुःख मेरे कारण ही हुआ है। मेरी दृष्ट चेष्टा कारण नहीं है तो अदृष्ट कारण है। सुख की तरह अपने किये कर्म से होने वाला जो दुःख है वह हमें निश्चित मिलेगा ही क्योंकि पापरूप कारण मौजूद है तो कार्य होगा ही। मुझसे द्वेष करनेवाला मुझे जो दुःख दे रहा है वह वही है जो मैंने अर्जित किया है, कोई और नया दुःख वह दे नहीं सकता। मेरा ही अर्जित किया हुआ कर्म दुःख देने वाला है। दुःख उस विद्वेषी के द्वारा मिलता प्रतीत हो रहा है पर वह *कारण* नहीं है। जिस दुःख-सुख को मैंने अपने कर्म से पैदा किया है वही मुझे मिल रहा है।

मेरा अहित करने वाला अपने चित्त को एकाग्र करके मेरा अहित कर रहा है। वह यह दुःख देकर क्या करता है? बहुत-से पाप मेरे सिर पर हैं; उनमें से एक पाप का फल देकर मेरे भार को हल्का ही कर रहा है। मुझ पर पड़े ज़्यादा भार को उसने हल्का कर दिया। जैसे अपने सिर से बोझ उतारने में जो मदद कर दे उसको अपना

उपकारी मानते हैं, इसी प्रकार मेरे कर्मभार को हल्का करने से यह मेरा उपकारी ही है। हिंसाक्रोशादि इसने किया, नतीजा हुआ कि हमारे उतने पाप कम हो गये। जो मेरे से द्वेष करनेवाला मुझ पर हिंसाक्रोशादि करता है, नीचा दिखाता है, घर में आग लगाता है, वह ऐसा इसीलिए करता है कि मुझे दु:ख होवे। शास्त्र के आधार पर निर्णित है कि मेरे पाप के फलस्वरूप मुझे दु:ख होना निश्चित है। मेरे द्वारा किये कर्म का फल मुझे भोगना ही है और मैंने जो कर्म किया नहीं है उसका फल मैं भोग सकता नहीं हूँ। मैं जो भी फल भोगता हूँ उसका कारण मेरा ही कोई पूर्व कर्म होता है। मेरे द्वारा ही किया हुआ जो पापों का भार था, उसको कम करने के लिए जो समाहित होकर कोशिश कर रहा है, वह मेरे हित के लिए ही लगा हुआ है। इस प्रकार वह मेरा उपकार ही कर रहा है। बाहर से तो प्रतीत हो रहा है कि वह मेरा अपकार कर रहा है परन्तु सचमुच में हित कर रहा है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि आदमी अहित करने जाता है और हित हो जाता है। पुराने जमाने में डाक्टर स्वयं ही दवाई तैयार करके देते थे। बाजार में रोगी के लिए तैयार दवा नहीं मिलती थी। एक व्यक्ति को श्वेत कुष्ठ था। उसे खाँसी की शिकायत हुई तो वह डाक्टर से दवा ले गया। दवा खाकर उसका कुष्ठ ठीक हो गया! वह बहुत खुश हुआ, डाक्टर से आकर बोला, 'डाक्टर साहब, आपकी दवाई से तो बहुत फायदा हुआ'। डाक्टर ने पूछा 'क्या खाँसी ठीक हो गई?' उसने कहा 'नहीं जी, खाँसी तो है, पर कुष्ठ ठीक हो गया।' डाक्टर साहब विचार करने लगें कि उस दवाई से यह कुष्ठ कैसे ठीक हो गया! डाक्टर ने उससे बनी हुई दवाईयाँ मँगवाई। उसका निरीक्षण किया तो पता चला कि उनमें कुष्ठ को ठीक करने वाले तत्त्व हैं। धीरे-धीरे कुष्ठरोग का इलाज होने लगा। जैसे डाक्टर ने अनजान में दवा दी पर वह रोगी के लिए हितकारी सिद्ध हुई वैसे ही कई बार हम अहित का आचरण करते हैं पर हित हो जाता है। ठीक इसी प्रकार से

असत्पुरुष ने अपनी समझ से तो मेरा अहित किया पर मेरा पाप कट गया, अतः हित हो गया। इसलिए मेरा अपकार करने वाला वास्तव में मेरा उपकारी है। यह भी एक कारगर विचार-अंकुश है।। १४।।

अतर्कयन्नभ्यवमन्यते परैः स्वकर्मणः प्रागशुभस्य तत्फलम्।
अथापि लिप्सोऽपगतोऽवमानभाग् यदर्थमीहा न तदाप्नुयात् कथम्।।१५।।

किंच–अतर्कयन्नचिन्तयन्नकस्माद्यद्यवमन्यते परिभूयते हिंसाक्रोशादि प्राप्नोतीत्येतत्, परैः प्राकृतैरपि नीचैः जनैः कर्मणोऽधर्मस्याशुभस्य प्राक्कृतस्य तत्फलमिति चिन्तयेद्ध्यायेदथाप्यन्यथाप्येवमवमानभाक् स्यात् परिभवमाप्नुयात्। कथं लिप्सोऽपगतो लिप्सया तृष्णयोपगतः संप्राप्तः स्वबुद्धिपूर्वकं प्रवृत्त इत्येतत् यदर्थं यस्मै इयमीहा चेष्टा यत्फलेऽत्यर्थः तच्चेष्टाफलं चेष्टिता कथं न प्राप्नुयात्। लिप्सार्थिकायाः चेष्टाया अवमानप्राप्तिरेव अहमवमानप्राप्तिहेतोः कर्मणः कर्तेत्युदासीन एव भवेत्।।१५।।

जब दूसरों द्वारा बिना विचारे, बेवजह अपमानित होवे तब समझे कि मेरे ही पुराने अशुभ कर्म का यह फल है। जब स्वयं ने ऐसा कुछ कहा किया हो जिससे छिड़कर दूसरा अपमान करे, तब विचार करे कि इस तरह के व्यवहार की इच्छा से ही मैंने मौका दिया था। अतः मेरी ही इच्छा पूरी हो रही है। अथवा जिससे दुर्व्यवहार संभावित है उससे जब व्यवहार करते हैं और वह आशानुरूप अपमानादि करता है तब याद रखना चाहिए कि क्यों कि मैं ऐसे दुर्व्यवहार की आशा कर ही रहा था इसलिए मेरी ही इच्छा पूरी हुई है।

नुकसान पहुँचाने वाले दो तरह के हैं–एक जो द्वेष करके प्रयत्नपूर्वक नुकसान पहुँचाते हैं और दूसरे जो कुछ सोच कर नुकसान नहीं पहुँचाते, वैसे ही कुछ कर देते हैं जिससे हमारा नुकसान हो जाता है। कई बार लोक में देखने में आता है कि सामने वाला नुकसान पहुँचाना नहीं चाहता पर हो जाता है। तुम बैठे हुए हो। कोई आया और छींक दिया। उसके अन्दर के वायरस तुम्हारे में आ गये। उसने

जानबूझकर तुम्हारे निकट नहीं छींका फिर भी तुम्हारी हानि हो गयी। अमेरिका में एक औरत के शरीर में मोतीझरा (टाईफाइड) के कीटाणु भरे हुए थे। उनसे उसे कोई नुकसान नहीं होता था। वह भोजन बनाने का काम करती थी। पहले घरों में बनाती थी, बाद में बड़े होटलों में बनाने लगी। साल भर में उस नगर में कई मोतीझरा के रोगी हो गये। लोगों ने निरीक्षण किया कि इतने रोगी कैसे हो गये? सबकी जाँच-पड़ताल करने पर पता चला कि वे सभी रोगी उसी होटल में खाना खाकर आये थे जहाँ वह स्त्री भोजन बनाती थी। होटल की जाँच की गई पर कोई कारण नहीं पाया गया। फिर कर्मचारियों का परीक्षण हुआ तो उस स्त्री में कीटाणु मिले। उसे होटल से निकाल दिया गया तो रोग होना भी बन्द हो गया। उस स्त्री का तो रोजगार ही भोजन बनाना था अत: उसने अन्यत्र नौकरी की तो वहाँ भी वही समस्या सामने आई। दो-चार बार उसने नौकरी बदली पर हर बार वही परिस्थिति बन जाती थी अत: अन्त में उसे कैद कर रखना पड़ा ताकि महामारी न फैले। वह औरत विचारपूर्वक किसी की हानि करने का कोई प्रयास नहीं करती थी पर फल यही होता था कि उसके निमित्त अनेकों की हानि होती थी। इसी तरह भारत में पहले 'डायन' होती थी। बाकि मायने में वह सामान्य स्त्री ही होती थी पर उसकी दृष्टि पड़ जाने से बच्चे बीमार हो जाया करते थे। वे इसके लिए कोई कोशिश नहीं करती थीं। प्रसिद्ध कथा है कि जब गणेश जी पैदा हुए तब शिव-पार्वती को बधाई देने सब देवतादि के साथ शनिदेव भी पहुँचे पर अपनी दृष्टि नवजात पर पड़ना बुरा जानते हुए वे गणेश जी को देख नहीं रहे थे। पार्वती जी ने कहा—'अरे! तू उधर मुँह करके क्यों खड़ा है, मेरे लड़के को क्यों नहीं देखता? देख कितना सुन्दर है'। शनिदेव ने कहा—'भगवती मुझे देखने को मत कहो'। पार्वती जी ने कहा—'नहीं, देख तो कितना सुन्दर है'। जैसे ही शनि ने देखा, वह बालक मर गया! पार्वती ने कहा—'अरे! यह क्या किया'? शनिदेव ने कहा—'मैंने तो पहले ही कहा

था कि मुझे मत ही देखने को कहो अन्यथा गड़बड़ हो जाएगा'। भगवान् शंकर समर्थ थे, परिस्थिति को सम्हाला। शनि की भी कोई इच्छा नहीं थी पर गणेश की हानि हो गई। ऐसा अनेक बार लोक में होता रहता है, दूसरे की स्वाभाविक चेष्टाओं से हमारा परिभव हो जाता है, नुकसान हो जाता है। वह नुकसान मेरे ही पूर्व दुष्कर्मों का फल है।

दूसरी तरह का नुकसान पहुँचाने वाला वह जो जानबूझकर, चाहकर, अपमान आदि करता है। किन्तु ऐसा वह तभी करता है जब कोई निमित्त हो, मौका मिले। जैसे कभी मैंने किसी को छेड़ा, चिढ़ाया। मैंने हँसी में किया पर जैसी कहावत है 'रोग का घर खाँसी, झगड़े का घर हँसी'; उस हँसी से विक्षिप्त होकर सामने वाला लड़ बैठा, मेरी हानि कर गया। ऐसे में स्पष्ट ही अपनी जिम्मेवारी है क्योंकि हँसी मजाक करते समय भी मुझे इस संभावना को मद्देनजर रखना चाहिए था, वह नहीं रखा तो मानो मैं अपनी हानि कराना चाह ही रहा था। अतः मेरी इच्छा ही पूरी करके वास्तव में वह व्यक्ति मेरे अनुकूल ही रहा। इसलिए कोई कारण नहीं कि मैं इस पर रुष्ट होऊँ। सज्जनों को दुर्जनों द्वारा किया पराभव ही दुःख देता है। दुर्जन ही नीच, प्राकृत होते हैं। प्राकृत अर्थात् प्रकृतिमय संसार को ही जो सब कुछ समझे। जो इस संसार को ही सब कुछ समझते हैं, इससे परे जो परमात्मा उसे कुछ नहीं समझते, वे ही नीच जन कहे जाते हैं। उनके मन में परलोक संबंधी भी कोई उच्च विचार नहीं होता है। इसी उपलब्ध संसार को सब कुछ समझते हैं। वे लोग ही सज्जनों से ऐसा आचरण करते हैं। लेकिन उन्हें हमारे प्रति ऐसा करने के लिए प्रेरित हमारा ही फलोन्मुख पाप करता है अतः मूल कारण हम ही हैं। हमने जो अधर्म किया था वही उनको प्रवृत्त करा रहा है, उनको निमित्त बनाकर फल दे रहा है। बार-बार ऐसा ही चिन्तन करे कि जो मेरे द्वारा पूर्वकृत कर्म है उसीने इसे ऐसा बनाया है। अतः दुर्जन के प्रति रोष करना, विद्वेष करना उचित नहीं, अनुचित है। मेरा जो अधर्म है वही सामने आया है। जिससे

दुर्व्यवहार की आशा न हो वह जब दुर्व्यवहार करे तब उक्त प्रकार का विचार करना चाहिए।

कभी कभी जिससे हम व्यवहार करते हैं उसे दुर्जन रूप से समझते भी हैं अर्थात् उससे दुर्व्यवहार की संभावना रखकर ही व्यवहार करते हैं। वह जब दुर्व्यवहार करे तब विचार करे कि जैसा मैं चाह रहा था, आशा कर रहा था, वैसा ही इसने व्यवहार किया है अत: मेरा ही अभिलषित मुझे प्राप्त हुआ है। जैसे हम गधी के नीचे बैठकर दूध दुहने की कोशिश करेंगे तो गधी की लात खानी पड़ेगी। रोग-विशेष के उपचारार्थ गधी के दूध की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के बारे में हमें पता है कि वह दुर्व्यवहार करने वाला है पर उससे व्यवहार करने में कारण हमारी ही कोई तृष्णा या दोस्ती है, उससे हमारे ही कारण हमें परिभव प्राप्त होता है। इसलिए वहाँ विचार करना चाहिए कि तृष्णा से प्रवृत्त होकर मैंने लात खाई है, इसमें कारण मैं ही हूँ। न मैं गधी का दूध दुहने जाता, न लात खाता। इसलिए जिसने हमारा अपमान किया उसके प्रति उदासीन ही रहना चाहिए।

इतना ही नहीं, अपमान का अनुभव दो तरह से होता है—कभी तो दूसरा व्यक्ति ऐसा कुछ कहता या करता है जो स्पष्ट ही अपमान का अनुभव कराये और कभी ऐसा होता है कि दूसरे ने अपमान करने के लिए कोई स्पष्ट चेष्टा नहीं की लेकिन हम खुद ही उधेड़-बुन करते हैं और निश्चय कर लेते हैं कि उसने हमारा अपमान कर दिया। जब स्पष्टत: कोई अपमानित करे तब तो 'पूर्व पाप का फल भोग रहा हूँ' यह विचार करना चाहिए और जब खुद के विचार से अपमान का अनुभव हो तब सोचना चाहिए कि मैंने खुद ही यों तर्कनाएँ की हैं अत: इसके लिए मैं ही जिम्मेवार हूँ, इसमें दूसरों को दोष नहीं दे सकता।। १५।।

ममापराधाद् अपि नाम यद्ययं सुखी भवेत् सोऽपि ममात्यनुग्रहः।
भवार्णवे दु:खनिरन्तरार्दितः तपस्व्ययं विश्रममाप्नुयाद् इति।। १६।।

किञ्च–ममापराधान्ममापकरणादपि नाम यद्ययं खलो जनः सुखी भवेत् मय्यपकर्ता सोऽप्यकारणात् सुखलाभो ममात्यनुग्रहः तेन कृतः स्यात् भवार्णवे जन्मनि संसारसमुद्रे दुःखनिरन्तरार्दितो व्याप्तविन्न इत्यर्थः। तपस्वी दुःखी वराकोऽयमेतावता विश्रममाप्नुयादित्यर्थः।। १६।।

मेरे प्रति अपराध करके अगर यह सुखी हो रहा है तो वह भी मुझ पर इसका अनुग्रह ही है। दुःख सागर में लगातार दुःख से संतप्त यह बेचारा मेरे निमित्त कुछ आराम पा रहा है, इससे मैं अनुगृहीत हूँ।

एक और विचार बताते हैं: जब कोई व्यक्ति हमें मारता है, गाली देता है तो यह काम करके उस आदमी को सुख होता है, न कर पाये तो उसको दुःख होगा। किसी को सुखी करना अच्छी बात है कि नहीं? किसी को सुखी देखकर हमें भी सुखी होना चाहिए। उसकी मार खाकर हम गिर पड़े तो उसको सुख पहुँचाया कि नहीं? हमारी हानि करके उसको सुख हुआ। अतः हमारी हानि उसके सुख का कारण है। दुःखी आदमी को सुखी करने का तो हमेशा ही प्रयत्न करना चाहिए। यदि यह व्यक्ति मेरे प्रति अपराध करके भी सुखी होता है तो वह मेरे ऊपर बड़ी कृपा करता है। कोई हमें भोजन के लिए बुलाता है, खिलाता है। जब खाकर चलने लगते हैं तब वह क्या कहता है?–'आपने बड़ी कृपा की'। हमें खिलाकर उसे सुख होता है। दुःख नहीं होता कि 'हमने तो इतने परिश्रम से हलवा बनाया, यह तो खाकर चला गया!'–ऐसा दुःख नहीं होता। हमारे कारण वह सुखी होता है तो हम भी प्रसन्न होते हैं, उसने भोजन कराया इसके लिए कृतज्ञता ही प्रकट करते हैं। इसी प्रकार, मेरे प्रति अपराध करके यह सुखी हुआ तो इसने मेरे ऊपर ही कृपा की है– यह समझना चाहिए।

यह कैसा व्यक्ति है? इस भवसागर में, जन्म-मरण के प्रवाह में पड़ा हुआ है। इस संसार में एक के बाद एक, दुःख ही दुःख हैं।

तुम प्रेमपूर्वक किसी से भी उसके दु:खों का पता लगाने की कोशिश करो तो उसे कैसे-कैसे दु:ख हैं यह तुम्हें वह एक-एक करके समझायेगा। संसारी व्यक्ति बड़ा तपस्वी है, कष्टों को खूब जमकर सहन करता है। दक्षिण में एक बड़े सिद्ध महात्मा हुए हैं सदाशिव ब्रह्मेन्द्र; वे बारह-तेरह साल के हुए तो उनके विवाह की तैयारी हुई। एक दिन विद्यालय से भोजन करने घर आये तो माँ ने कहा 'बैठ जा, आज भोजन में देरी है'। वे पढ़ा हुआ पाठ विचारने लगे। थोड़ी देर में कहा 'माँ, अब तो भोजन करा दे'। माँ ने कहा 'नहीं, अभी देरी है'। थोड़ी देर बाद पूछा 'माँ, भोजन में कितनी देरी है'? माँ ने कहा 'तू कुछ समझता तो है नहीं, आज लड़की वाले तुझे देखने आ रहे हैं। तेरा ब्याह पक्का हो रहा है। वे आयेंगे तभी न खाना होगा'। ब्रह्मेन्द्र सोचने लगे कि जिस ब्याह की तैयारी में दाल-रोटी नहीं मिल रही है वह ब्याह हो जाने पर क्या सुख होगा! वे तत्काल घर से निकल पड़े, आगे उच्च कोटि के विद्वान् और ब्रह्मनिष्ठ हुए। वैराग्यवालों को उनका व्यवहार प्रशंसा के योग्य लगता है और रागी कहते हैं—ये तो भगोड़े हैं!

अगर ऐसे लोगों से कहें कि अस्पताल बन्द कर देने चाहिए, रोग आने पर उनसे डटकर लड़ो, क्यों रोग से भागते हो? रोग की निवृत्ति के प्रयास को पलायनवाद मानोगे कि बुद्धिमत्ता मानोगे? दु:ख से हटने की इच्छा को पलायनवाद कैसे कहा जा सकता है? पर रागियों को संसार के प्रति इतनी आसक्ति है कि कहते हैं कि संसार में ही रहना चाहिए, चाहे कितने ही दु:खी होना पड़े। यह दुर्जन भी संसारी अत: सांसारिक दु:ख झेलने वाला तपस्वी है।

मैंने अपना अपमान करवाकर इसे कुछ तो सुख पहुँचा दिया। मेरे कारण यह सुखी हुआ, यही इसने मेरे ऊपर अनुग्रह किया। मेरे प्रति अपराध अर्थात् मेरा अपकार करके भी यह प्रसन्न हो गया इससे मुझे पुण्य ही हुआ क्योंकि दु:खी को सुख पहुँचाना पुण्य का काम है। ऐसा पुण्य का मौका देकर इसने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की। ठीक

जैसे दिनभर परिश्रम करके बने हलवे को खाकर जब अतिथि प्रसन्न होता है तब बनाने वाले को खुशी मिलती है वैसे मुझे खुश होना चाहिए। जन्म-मरण रूपी संसार समुद्र है, भवार्णव है। बचपन से लेकर अपने मरण तक के समय का विचार करो तो स्पष्ट है कि यही भवसागर है। साधारण व्यक्ति को भी दिनभर में असंख्य चीजों का अनुभव हो ही जाता है। यदि गिनने लगें तो कुछ महिनों या सालों में ही इतने अनुभव हो जाते हैं कि उन्हें समुद्र से कम नहीं कह सकते। एक लाख क्षणों में सुख के कितने और दुःख के कितने ज्ञान हुए? सुख के ज्ञान कम और दुःख के अधिक होते हैं। साधारण रूप से अगर हम रास्ते में चल रहे हैं तो भी हमें इसके उदाहरण मिल जायेंगे। कभी पैर गंदी चीज़ पर जाता है, कभी गड्ढे में जाता है, धक्का लगता है, पीछे से ट्रक बड़े जोर का हार्न बजाता है, यों एक-के-बाद एक दुःख आते हैं। बीच-बीच में एक-दो सुख भी आ जाते हैं—जैसे कोई सुन्दर चीज़ या व्यक्ति दीख गया। परन्तु दुःखों को गिनने पर पायेंगे कि दुःख निरन्तर ही है। अतः संसारी दुःखों से व्याप्त अर्थात् घिरा हुआ और उन दुःखों से विन्न अर्थात् बिंधा हुआ है, छलनी बना हुआ है।

ऐसा दुःख सहन करने वाला ही तपस्वी है। कई औरतें नियम करती हैं कि सालभर गीला कपड़ा पहनेंगी, या चातुर्मास्य में सूर्य का दर्शन करने के बाद ही खायेंगी; ऐसी औरतों को तपस्वी माना जाता है। जो तो करवा चौथ को चाँद निकलने में देर हो और शिमला के 'मून लाइट' सिनेमा पर बने चाँद को ही अर्घ्य देकर खा लें, उन्हें कोई तपस्वी नहीं कहता। दृढता से दुःख सहने वाला तपस्वी है। कोई गरीब है, उसके पास रोटी नहीं है, उसको खाना दे देते हैं तो वह सुखी हो जाता है। ठंड में ठिठुरते नंगेबदन गरीब को कम्बल देते हैं तो वह सुखी होता है। इसी प्रकार यह बेचारा दुर्जन निरंतर दुःख उठा रहा है; किसी दूसरे के साथ हिंसा करेगा तो वह इसे मारपीट कर ठीक

कर देगा। इसने मुझे कष्ट पहुँचाया, मैं इसका प्रतिरोध न करूँ तो यह सुखी होगा। मुझे अपमानित कर यह थोड़ा-सा सुख, विश्राम प्राप्त कर ले तो मेरा क्या हर्ज है? बल्कि मुझे पुण्य ही होगा। साधक को इस प्रकार से विचार करना है। बार-बार विचार करने से ही संस्कार बनेगा। अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, व्यवहारशास्त्र के तो हममें संस्कार बहुतेरे हैं और अन्य लोग भी वे शिक्षाएँ देते ही रहते हैं पर अध्यात्म शिक्षा हम नवीन ग्रहण कर रहे हैं, इसके संस्कार अभी बहुत कम हैं और इन्हें उपोद्बलित करने वाले साथी भी दुर्लभ हैं अतः हमें ही पुनरावृत्ति से इन संस्कारों को दृढ करना होगा। जब बार-बार ऐसा चिन्तन करेंगे तब ये संस्कार दृढ हो जायेंगे और नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र के संस्कार क्षीण हो जायेंगे। तब बिना प्रयत्न यह स्थिति रहेगी कि किसी के प्रति क्रोध होगा ही नहीं।। १६।।

इतश्च सुहृदेव

यतो मुमुक्षोर्बहुदुःखभाजनो य एष देहो मदरिर्भवानुगः।
तमेव यो द्वेष्टि स एव मे सुहृत्तदात्मदृक् स्यामहमात्मनोऽसुहृत्।। १७।।

यतो मुमुक्षोः मोक्षमिच्छतः कोसौ यतो ममुक्षुरित्याह य एष देहः शरीरं मदरिः मम शत्रुः भवानुगः भवः संसारः भवमनुगच्छतीत्यतः शत्रुरिह मम देहस्तमेव यो द्वेष्टि स एव सुहृदुपकारी। अस्मत्कर्तव्यप्रवृत्तत्वाद्यदि पुनरहं देहे प्राकृतवत् बहुदुःखभाजने शत्रुवत् प्रतिकूलवर्तिन्यशुचौ तस्मिन्नात्मदृक् स्यामहमात्मदर्शनो भवेयमित्यर्थः तत आत्मदर्शिनो ममाहमेवासुहृत् शत्रुः स्याम् तस्मादात्मदेहे द्विषद्द्रोहो न कार्यः।।१७।।

संसरणशील व अनेक दुःखों का पात्र यह शरीर, जिससे मैं छूटना चाहता हूँ, मेरा शत्रु है। जो इसी शरीर से द्वेष करता है वही मेरा मित्र है। शरीर को अपना रूप समझूं तो मैं ही अपना शत्रु होऊँगा।

अपकर्ता को सुहृत्, मित्र समझने में एक और हेतु है—जो उपकारी

होता है, सुहृत् होता है, वह जैसा हम सोचते हैं, वैसा ही सोचता है। हमारे दुःखी होने से वह भी दुःखी होता है। जिनके विचार एक-समान हों उन्हें सुहृत् कहते हैं। मुमुक्षा की आशा वाले के लिए सबसे ज्यादा दुःख देने वाली चीज क्या है? यह शरीर है। आत्मचिन्तन करने बैठो तो थोड़ी देर में पेट में चूहे दौड़ने लगते हैं। भोजन बनाकर खा लो। पुनः ध्यान करने लगे तो पेट में भारीपन होगा, वायु हो जायेगी, शौच जाने की इच्छा होगी। यह शरीर कुछ-न-कुछ परेशान करता ही रहता है। मुमुक्षु का शरीर ही दुःख का भाजन है, बहुत दुःखों से युक्त है। अतः यह मेरा दुश्मन है, मुझे मोक्ष के रास्ते से भटकाने वाला है। सामने वाला दुर्जन व्यक्ति क्या करता है? जो शरीर मुझे दुःख देता है उसी से द्वेष करता है। यही दोस्त का लक्षण है कि हमारे दुश्मन को अपना दुश्मन भी माने, तभी वह सुहृत् है, उपकारी है। जो हमारे दुश्मन की मदद करे वह सुहृत् नहीं। शरीर मुझे दुःख देने वाला शत्रु है और उसी से दुर्जन द्वेष करता है अतः वह मेरा मित्र है क्योंकि जैसी मेरी दृष्टि वैसी ही उसकी दृष्टि है।

'मुमुक्षु'—जो इस संसार सागर से छूटना चाहते हैं। मोक्ष का अर्थ है, जिस चीज़ से बन्धन है उस से छूटने की इच्छा होना। हमारा बन्धन क्या है? जो हम करना चाहते हैं वह कर नहीं पाते, जो जानना चाहते हैं वह जान नहीं पाते। हमारे अन्दर तीन चीजें हैं, जानना, करना और चाहना। यदि चेतन को जड से अलग कर दिया जाये तो वह जान नहीं सकेगा। करने का अर्थ होता है 'मैं कर रहा हूँ' ऐसी प्रतीति होना। इसी प्रकार 'मैं चाह रहा हूँ' ऐसी प्रतीति होना इच्छा करना है। जो आँख में हो रहा है उसी प्रक्रिया को तुम यंत्र में कर सकते हो, पर यंत्र में 'मैं जान रहा हूँ' ऐसी कोई प्रतीति नहीं हो सकती। इच्छा करने में हम स्वतन्त्र हैं, चाहे जो मनसूबे बना सकते हैं। दक्षिण के जंगम साधु रात में सोने से पहले जब गप्प हाँकते हैं तब एक-से-एक बढ़िया मन्दिर बनाने की बातें करते हैं जबकि पूँजी उनके पास चार कौड़ी की

भी नहीं होती। लगभग पैंतीस साल पूर्व योजना प्रकाश में आई थी कि भारत की सब नदियाँ परस्पर जोड़ दी जायें: यह कहाँ तक सम्भव है और इसके लिए अपेक्षित धन हमारे पास है या नहीं इस सब पर बिना निर्भर किये इच्छा तो हम लोग कर ही लेते हैं। इच्छा करने में हम स्वतन्त्र हैं परन्तु न हम जान सकते हैं स्वतंत्र होकर, न हमारी क्रिया ही स्वतंत्रता से हो सकती है।

वह स्वातंत्र्य हमें तभी मिले जब हम ईश्वर से पृथक् न रह जायें क्योंकि इस जगत् का एकमात्र कारण ईश्वर ही ज्ञान और क्रिया में भी पूर्ण स्वतंत्र है। यदि हम ईश्वर से एक हैं तो हमारा बंधन नहीं है, अन्यथा बंधन है। ईश्वर से एकता किन साधनों से प्राप्त हो? जो चीज़ क्रिया करके प्राप्त की जाती है वह नष्ट होती है। क्रिया करके जिसको पायेंगे वह हमेशा ही नष्ट होगा। यदि हमारा ईश्वर से अभेद क्रियाफल होगा तो वह कभी समाप्त भी हो जायेगा, हम उससे अलग हो जायेंगे। हमेशा के लिए बन्धन से छुटकारा तभी मिल सकता है जब मोक्ष क्रिया से नहीं वरन् ज्ञान से हो। शास्त्र ने इसीलिए कह दिया है कि 'ज्ञान के सिवाय और किसी से मुक्ति संभव नहीं'। इसका मतलब यह हो गया कि अज्ञान से बन्धन है। हम में और ईश्वर में फ़र्क नहीं है पर हम इस बात को जानते नहीं। जब ज्ञान होता है तब इतने जोर की हँसी आती है कि मैं इतना बेवकूफ कैसे हो सकता हूँ! अपनी वास्तविकता को ही नहीं जानते हैं। मोक्ष का अर्थ होता है आत्मस्वरूप की वास्तविकता के ज्ञान से बन्धन की मुक्ति। बन्धन करने वाला ही हमारे ज्ञान में रुकावट है। उस रुकावट के हटने पर केवल चिन्मात्र ही रह जाता है। यह याद रखना चाहिए कि रस्सी में सर्प को जानना ज्ञान नहीं है। रस्सी में सर्प को *नहीं* जानना—यह ज्ञान है। इसी प्रकार नाम-रूप को जानना—यह ज्ञान नहीं है। जो है नहीं, उसको जानना ज्ञान नहीं है। मोक्ष की इच्छा अर्थात् ईश्वर और हम में जो भेद आया है उसको दूर करना।

इसे दूर करने के लिए प्रारम्भ करना पड़ता है स्वयं को अपने शरीर से छुड़ाने से। हम खुद को शरीर से एकमेक समझ रहे हैं, इस नासमझी से छूटना, अन्नमय स्थूल शरीर से विवेक होना पहला कदम है। स्थूल शरीर हमारा बन्धन है, हमें परिच्छिन्न, सीमित करता है यह तो स्पष्ट ही है। शरीर की बनावट ऐसी है कि आँख की रोशनी आगे की तरफ होती है, पीछे की तरफ नहीं। मक्खी को मारना अच्छे-अच्छे लोगों के लिए कठिन है। उसकी छः आँखें हैं जो आगे पीछे सब तरफ देखती हैं। अगर हम उसे पीछे से मारने जायें तो भी उसे दीख जाता है, झट से उड़ जाती है। हमें आगे ही दीखता है, पीछे नहीं दीखता, यह हमारी सीमा हो गई। जैसे यह स्थूल शरीर हमें परिच्छिन्न करता है वैसे ही सूक्ष्म शरीर की भी सीमा है। मन की, प्राण की सीमा—सूक्ष्म शरीर की परिच्छिन्नता है। जैसे ज्ञान और क्रिया को यह स्थूल शरीर परिच्छिन्न करता है वैसे ही सूक्ष्म शरीर भी करता है। ऐसे प्राणी होते हैं जिनके बच्चे पैदा होकर माँ के शरीर को खाते हैं। यह प्राणी चाहे तो भाग भी सकता है, उन बच्चों को मार भी सकता है, पर 'मेरे बच्चे हैं, कैसे मारूँ! मैं भाग गयी तो ये क्या खाएँगे'—इस मनोविचार से वह उन्हें स्वयं को खाने देती है। स्थूल शरीर की सामर्थ्य नहीं है, ऐसी बात नहीं, पर मन परिच्छिन्न है अतः मरना पड़ता है। सूक्ष्म शरीर भी मेरा शत्रु है। किसी ने तारीफ की तो लोग कहते हैं कि 'फूलकर कुप्पा हो गया'। शरीर तो फूला नहीं, क्या फूला? सूक्ष्म शरीर। स्थूल और सूक्ष्म शरीर दोनों को अपना भोज्य मिलने से ये फूलते रहते हैं। शरीर ही दुःखों का भाजन अर्थात् पात्र है। जो मुझे पकड़कर जेल में बन्द करे वह दुश्मन नहीं तो क्या है! इस शरीर के कारण ही हमारे अन्दर परिच्छिन्नता है अतः यह शरीर हमारा दुश्मन है।

परन्तु बड़ी सुन्दर परिच्छिन्नता इसने की है। लोग कबूतर, तीतर पकड़ कर रखते हैं। क्यों रखते हैं? उन्हें आपस में लड़ाने के लिए।

वे घायल होकर दुःखी ही होते हैं। पक्षी पकड़ने का तरीका है कि एक छोटा गड्ढा बनाकर उस पर एक ऐसी लकड़ी रखते हैं जिस पर वज़न पड़ते ही वह घूम जाती है। नीचे दाने देखकर चिड़िया उस पर बैठती है तो लकड़ी घूम जाने से वह उल्टी लटक जाती है। चिड़िया सोचती है कि लकड़ी को छोड़ा तो मैं गिर जाऊँगी अत: उसी को जोर से पकड़े रहती है। तब बहेलिया उसे पकड़ लेता है। ठीक इसी प्रकार ये शरीर बन्धन करने वाले हैं; हम सोचते हैं कि ये छूटे तो हम ही मर जायेंगे! इसलिए इस शरीर को जोर से पकड़कर रखते हैं। कई लोग हैं जिनको कहीं का पानी, भोजन मौसम अनुकूल ही नहीं लगता। बीस साल से घूम रहे हैं पर कहीं भी साधन करने के लिए स्थान नहीं मिलता, कुछ-न-कुछ शरीर में रोग लगा रहता है। जैसे स्थूल शरीर वैसे ही सूक्ष्म शरीर है। मन में जो मैं चाहता हूँ वैसा नहीं होता तो मैं विचलित हो जाता हूँ, लगातार कोशिश रहती है कि मन की पसंद का ही कार्य होवे। शरीर और मन को ठीक रखने में ही सारी जिन्दगी निकल जाती है। मनुष्य का शत्रु कौन है? शरीर ही तो शत्रु है, उसी को पकड़े रहते हैं। सजने-धजने में ही घण्टों बिता देते हैं। इस स्थूल, सूक्ष्म शरीर नाम के दुश्मन को हम पुष्ट करने में लगे रहते हैं।

यह शत्रु कैसा है? भवानुग है। भव अर्थात् संसार। जन्म-मरण की तरफ ही जो जाता रहता है वह भव-अनुग है। ये स्थूल-सूक्ष्म शरीर हमें ऐसे कर्मों में प्रवृत्त करते हैं कि हम जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहते हैं। मुमुक्षु के लिए यह शरीर शत्रु है। ऐसे मेरे शरीर को ही यह दुर्जन अपना शत्रु समझता है। मैं स्थूल-सूक्ष्म शरीर को ही शत्रु समझता हूँ, आत्मा को तो मैं शत्रु समझ नहीं सकता। सामने वाला भी मेरे स्थूल सूक्ष्म शरीर को ही दुश्मन समझता है, न कि आत्मा को। इसलिए जो मेरे शरीरों का नुकसान करने वाला है वह मेरा सुहृद् है, मेरा उपकार करने वाला है। मेरे शत्रु को जो मारे उसको मेरा उपकारी ही मानोगे। जो वह कर रहा है वह वास्तव में हमें स्वयं करना चाहिए

कि हम इस शरीर को दुःखी करें। दुर्जन ने हमारा काम कर दिया, अतः हमें उसका कृतज्ञ होना चाहिए।

यदि उसके ऐसा करने पर उसको उपकारी न समझें तो मतलब होगा कि प्राकृतों की तरह हम शरीर को अपना हितकर मान रहे हैं। जैसे जलते कोयले के टुकड़े को देखकर उसे सोने का टुकड़ा समझकर कोई पकड़ लेवे, उसी तरह हम शरीर से एकता कर लें तभी मानेंगे कि हमें धक्का दिया, या गाली दी। किसी ने इस मन का अपमान किया, इसे दुःखी किया और हमने माना कि 'मुझे दुःखी किया' तो स्पष्ट है कि हमने मनको मैं समझा है। सारे दुःख इस शरीर-मन में ही भोगे जाते हैं। बिना शरीर के दुःख नहीं भोगे जाते। सारे दुःखों का भाजन, पात्र यह शरीर शत्रु अर्थात् प्रतिकूल वस्तु है। शत्रु हमेशा हमसे प्रतिकूल आचरण करता है, हमारे विरुद्ध रहता है, हम जैसा चाहते हैं वैसा कभी नहीं करता। यात्रा आदि में अशुद्ध दशा में हम खाना नहीं चाहते पर शरीर विरोध करता है, इतनी भूख लगाता है कि हम खा ही लेते हैं। शरीर में सामर्थ्य तो है दो दिन भूखा रहने की पर शत्रुवत् व्यवहार कर वह रहता नहीं। शत्रु की तरह ही यह शरीर प्रतिकूल व्यवहार करता है। फिर भी हम उसे 'मैं' समझते हैं! इस शरीर को अन्दर से देखो, चीर-फाड़कर देखो। खून, मज्जा आदि सब चीजें ऐसी हैं कि जिनको देखते ही हमें घृणा हो जाएगी। सब अपवित्र चीजें हैं। एक भी चीज ऐसी नहीं जिसे देख-छूकर घृणा न आये, जो पवित्र हो। मैं जानता हूँ कि आत्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला है। वह न तो शरीर की तरह अनित्य है न अशुचि है। फिर भी हम शरीर को आत्मा समझें तो हम ही अपने दुश्मन होंगे। बल्कि हमसे तो यह दुर्जन भला जिसने हमारे वास्तविक शत्रु मन-शरीर को पीडित किया। वह कार्य था हमारा, मोहवश हमने नहीं किया, उल्टा शरीर-मन को पुष्ट ही किया, दुर्जन ने शरीर-मन को दुःख देकर हमारे प्रति सच्ची मैत्री दिखाई। इस प्रकार विचार कर जो हमारे शरीर-मन से द्वेष करते

हैं उनसे द्रोह नहीं करना चाहिए, उन्हें अपना सुहृत् ही समझना चाहिए।। १७।।

और भी विचार का ढंग बतलाते हैं: दूसरे के द्वारा परिभव होने पर, अथवा आक्रोश का विषय बनने पर, उसे करने वाला जो निमित्त उससे दुःख होता है। अपने को जब दुःख होता है तब आदमी सहन नहीं कर पाता अतः प्रतिक्रिया होती है। परन्तु इस संसार में सिवाए दुःख भोगने के और आये ही किसलिए हैं। जब दुःख को सहन नहीं करना था तो तुम इस जन्म में आए ही क्यों? इस विचार से सांसारिक क्लेश सह जाने चाहिए, उनके प्रतिरोध में सामर्थ्य न गँवाकर आत्मकल्याणार्थ ही कोशिश करते रहना चाहिए।

अपि च, परपरिभवाक्रोशादिनिमित्तं न दुःखमनुभवेयमित्यक्षमा न युक्ता। कथम्?

अनावृताङ्गः पतितो महोदधौ न कामयेताम्बुभिरप्लवं यथा।
भवार्णवे मा तदवाप्तिजा रुजो ममैव भूवन्निति तद्वदक्रमः।।१८।।

अनावृताङ्गः उदकसंस्पर्शवारणेनानावृतशरीरः सन् पतितो निमग्नो महोदधौ समुद्रे न कामयेत नेच्छेदम्बुभिरप्लवं गात्राणां स्नेहेनाव्यापनं यथा दृष्टान्तं भवार्णवे जन्मादिसमुद्रे मा तदवाप्तिजा जन्माद्यवाप्तिजा रुजो दुःखानि पराक्रोशादिनिमित्तानि मम तत्रस्थस्य मा भूवन्नेवेति भावः। ताथाऽयुक्त इत्यर्थः।।१८।।

शरीर ढाँके बिना समुद्र में कूदा व्यक्ति जैसे यह नहीं चाह सकता कि जलसे भीगूं नहीं वैसे संसार-सागर में पड़ा व्यक्ति चाहे कि संसार-प्रयुक्त दुःख मुझे ही न हों—यह असंगत बात है।

मान लो किसी ने अपने सब कपड़े खोल दिये और सागर में छलाँग लगा दी। अब अगर वह कहे कि 'मुझे पानी न छुए' तो जैसे यह अक्रम अर्थात् असंगत माँग है वैसे ही इस संसार सागर में तो

कूद पड़े और इसमें होने वाले दुःखों से बचे रहना चाहे तो वह भी असंगत इच्छा है। पानी में कूदकर सूखे रहने की इच्छा वाले की तरह जन्मादि-संतति वाले संसार समुद्र में कूदकर सांसारिक पीडाओं से बचाव चाहने वाला भी मूर्ख ही है। संसार में रहते दुःख न होवे ऐसा सोचना अक्रम है। हिन्दी में कहावत है कि 'ऊखल में सिर दिया तो मूसल से क्या डर है!' ऐसे ही संसार में आ गये तो दुःखों से मुँह नहीं मोड़ सकते। अनेक लोग आजकल आधुनिक तकनीकों का प्रयोग तो करना चाहते हैं पर उनसे होने वाले दुःखों को नहीं भोगना चाहते। पहले भारतवर्ष में डेढ़-दो लाख आदमी मर जाते थे साँप, बिच्छू आदि के काटने से। अब दस-बारह लाख लोग ट्रक आदि की टक्करों से मर जाते हैं। जानवरों को मारने की तो बहुत चेष्टा की गयी पर क्या इन ट्रकों को बन्द करने का सोचा कभी? बल्कि और सड़कें बनाते हैं कि ट्रकें तेजी से दौड़ें। लेकिन जब अपना लड़का धक्का खाकर मर जाता है तब रोते हैं। जैसे हम चाहते हैं कि चीजों की, उनसे सुविधाओं की प्राप्ति होवे पर उनसे संबन्धित दुःखों की प्राप्ति न होवे, ऐसे ही जन्मादि दुःखपूर्ण संसार प्राप्त करके भी हम इसमें स्वाभाविक रूप से विद्यमान दुःखों को भोगना नहीं चाहते पर संसार की प्राप्ति करके दुःख तो भोगने ही पड़ेंगे, सभी व्याधियाँ सहनी ही पड़ेंगी। यह सब न होवे ऐसा चाहना ही अक्रम है। रोगों के रहने की जगह तो शरीर ही है, वहीं वे रहेंगे। हम शरीर में रहें पर हमें रोग न हो—यह कैसे हो सकता है! इसी प्रकार मन में शोक न हो, यह कैसे हो सकता है! जिसके बाद जो चीज आनी अवश्यम्भावी है वह न आये ऐसा सोचना अक्रम से सोचना है, ऐसा आएगा ही—यह सोचना क्रम से सोचना है।

'अनावृतांग' का टीका में अर्थ किया कि पानी के संस्पर्श का जो वारण करे ऐसी चीज़ से जिसने शरीर नहीं ढका है। केवल वस्त्र तो शरीर को गीला होने से नहीं रोकता। अत: ऐसे आच्छादन से तात्पर्य है जो जल को भीतर न आने दे जिसे अंग्रेजी वाले 'वाटरप्रूफ' कहते

हैं। किसी प्रकार का वाटरप्रूफ आवरण प्राचीन काल में भी होता था, इसलिए 'उदकसंस्पर्शवारणेन' कहा अर्थात् जल के स्पर्श को जो वारण करता है, ऐसी चीज से जिसने शरीर को अनावृत रखा है। भव सागर है, इसका आरम्भ जन्म से होता है। पहले जन्म लेगा, फिर बढ़ोत्तरी होगी। बढ़ने में भी मन-लायक वृद्धि हो तो सभी खुश होते हैं पर घुटने की हड्डी बढ़ जाये, रीढ़ की हड्डी बढ़ जाये तो दुःखी होते हैं। जन्म हुआ है तो सभी कुछ बढ़ेगा ही, और भी परिवर्तन होंगे लेकिन शरीर में अनुकूल परिवर्तन होता है तो लोग खुश होते हैं, प्रतिकूल परिवर्तन होता है तो लोग दुःखी होते हैं। शरीर का क्षय भी होता है। जन्म लिया है तो क्षय भी होना ही है। पैदा हो जाने पर सभी विकार क्रमबद्ध आते ही हैं।

जब तक जीव शरीर में स्थित है तब तक ये विकार आते हैं, दुःख के कारण बनते हैं। अगर इनसे बचना चाहते हो तो शरीर में मत रहो। मैं शरीर नहीं हूँ—जब इस बात को जान लेते हो तब शरीर की पीडाओं से छूट जाते हो। आज से सत्तर-बहत्तर साल पहले अगर बर्मा में कोई मारपीट होती थी तो हम सभी दुःखी होते थे। श्रीलंका में युद्ध होते थे तो सोचते थे 'देखो, हमारे यहाँ क्या हो रहा है'। उसके बाद पैंसठ साल पहले श्रीलंका और बर्मा भारत से अलग कर दिये गये। आज बहुतों को यह भी पता नहीं कि बर्मा में कौन राष्ट्रपति है, मुख्यमंत्री है। फिर पचपन या सत्तावन साल पहले सिंध, पंजाब, फ्रंटियर– ये अलग हुए, पाकिस्तान बन गया। पूर्वी बगांल अलग कर दिया गया। अब पूर्व बंगाल में बाढ़ आये तो कोई भारतीय चिंता करता है क्या? यह विचार करना चाहिए कि यदि वे सचमुच में हमारे होते तो अलग कैसे हो जाते?

इसी प्रकार शरीर भी दूसरा हो जाएगा। अभी तो समझ रहे हो कि यह शरीर मैं हूँ। पर मरते ही यह छूट जायेगा, फिर इसके सड़ने, जलने की तुम्हें कोई परवाह नहीं रहेगी। इसलिए जन्मादि से होने वाले

दुःख मुझे न होवें यह तब होगा जब मैं उसमें स्थित नहीं होऊँगा, इस शरीर को में 'मैं' नहीं समझूँगा। जब तक शरीर से एकता रखेंगे दुःख होगा ही। इस विचार से आक्रोश आदि को स्वाभाविक क्रम से आने वाला जानकर साधक न विचलित हो और न दुर्जन आदि के प्रति द्वेष करे।। १८।।

अपमान आदि करने वाले के प्रति यति को 'मैं क्यों सहूँ' यह भाव होना ही नहीं चाहिए, बल्कि उसे पूजा के लायक आदरणीय समझना चाहिए।

प्रत्युत पूजार्हो यतेर्ममाक्रोष्टा। कथम्–

निराकरिष्णुर्यदि नोपलभ्यते भविष्यति क्षान्तिरनाश्रया कथम्।
यदाश्रयात् क्षान्तिफलं मयाप्यते स सत्कृतिं कामिव नाम नार्हति।।१९।।

निराकरिष्णुः निराकरणशीलः आक्रोष्टा यदि नोपलभ्यते न दृश्यते न प्राप्येत, भविष्यति क्षान्तिः क्षमाऽनाश्रया निर्निमित्ता, कथं भविष्यतीत्यर्थः। यदाश्रयात् यस्मादाश्रयादाक्रोष्टुः, क्षान्तिफलं क्षमायाः फलं चित्तप्रसादलक्षणं, मया मुमुक्षुणाप्यते स ममाक्रोष्टा क्षमाफलप्राप्तिहेतुः, सत्कृतिं सत्कारं, कामिव पूजां नार्हति सर्वमेवार्हतीत्यर्थः। अतः क्षान्तं (क्षन्तव्यम्) एवेत्यर्थः।।१९।।

अगर विरोधी लोग न हों तो क्षमा का अभ्यास कैसे होगा? जिसके निमित्त से मुझे क्षमा का फल चित्तशोधन मिल रहा है वह तो समस्त पूजाओं के ही योग्य है।

संन्यासी के धर्मो में क्षमा को गिना है। कोई यदि गाली-गलौज करे ही नहीं तो यह क्षमा का गुण मुझ संन्यासी में कैसे प्रकट होगा? आत्मचिन्तन करने के लिए शरीर चाहिए अतः शरीर को जो भोजन-पानी देता है उसको तुम बड़ा अच्छा आदमी समझते हो। क्योंकि भोजन पानी

देकर उसने तुम्हें आत्म-चिन्तन का मौका दिया। इसी प्रकार इसने गाली-गलौज देकर क्या किया? क्षमा के अभ्यास का हमें मौका दिया। यदि मुझे तिरस्कृत करने वाला न मिले तो मैं क्षमा किसे करूँ! इसने मुझे गाली देकर क्षमा करने का मौका दिया। क्षमारूप गुण का फल है ज्ञाननिष्ठा की योग्यता; जिसका सहारा ले कर वह फल मुझे मिलने वाला है उसका मुझे सत्कार ही करना चाहिए। जो मनुष्य मुझे क्षमा करने का अवसर दे रहा है, उसका सत्कार कैसे न किया जाए! आक्रोश करने वाले से मुझे क्या मिला? क्षमा करने का मौका मिला, क्षमा के अभ्यास का फल है कि अन्तःकरण द्वेषादि से रहित होकर अत्यन्त शान्त हो जाता है। यदि यह अपकारी न होता तो मेरा अन्तःकरण शुद्ध कैसे होता? मैं मोक्ष की इच्छा वाला चाहता हूँ कि मेरा अन्तःकरण शुद्ध होवे। मेरे को क्षमा का अभ्यास कराने के लिए उसने ये सब किया। यह जो समाक्रोष्टा, आक्रोश करने वाला है वह क्षमाफल को प्राप्त करने में निमित्त बना है। मैं मुमुक्षु होकर भी उसका सत्कार कैसे न करूँ, जिसने इतना मौंका दिया।

यह तो वैसा ही आदमी है जैसा जो मुझे भोजन-वस्त्र देता है। भोजन-वस्त्र देता है तभी मैं जीवित रहकर साधना में बढ़ पाता हूँ, नहीं तो कैसे बढ़ता? जैसे भोजन देकर किसी ने आगे बढ़ाया वैसे ही गाली देकर इसने भी मुझे ऊँचा उठने का मौका दिया। इसलिए मैं मुमुक्षु होकर भी इसका सत्कार कैसे न करूँ? इसका प्रसिद्ध दृष्टान्त भृगुमहर्षि हैं। उन्होंने विष्णु भगवान् को लात मारी। भगवान् विष्णु उनके पैर को सहलाने लगे कि 'आपके पैर में चोट आ गई होगी। मेरा शरीर तो व्रज की तरह है। आपके शरीर को चोट लग गई होगी'। उनके इस व्यवहार से आज भी लोग याद करते हैं कि 'देखो, भगवान् विष्णु ने कैसे क्षमा किया'। अगर भृगुजी ने लात ही नहीं मारी होती तो विष्णु का क्षमा का गुण कैसे स्फुट होता? इस विचार से आक्रोश करने वाले को आदरपूर्वक सहन करना ही उचित है।। १९।।

सुहृन्मतेनापकृते कृतं मया ध्रुवं पुरा कर्म सुहृद्विरञ्जनम्।
तथास्य सिद्धिर्यदि विप्रियं चरेदिति द्विषद्विप्रकृतो न तप्यते।।२०।।

सुहृन्मतेनापकृते सुहृदित्यभिमतेनासत्कृते सति परिसङ्ख्यानमुच्यते– ध्रुवमवश्यं पुरा पूर्वजन्मनि मया कृतं कर्म सुहृद्विरञ्जनं सुहृदां विरागो येन भवति दुःखकरमित्येतत्। तथास्य कर्मणः सिद्धिः फलसिद्धिरियं मम यदि विप्रियमनिष्टं चरेदिति एवं विप्रकृतो द्विषद्भिर्विप्रकृतोऽपकृतस्सन् परिचक्षाणोऽयं किं, न तप्यते नैव तापमुपैतीत्यर्थः।।२०।।

जिसे मित्र समझा वह यदि अपकार करे तो सोचना चाहिये कि अवश्य ही मैंने पूर्व जन्मों में मित्रों के अप्रिय कार्य किये होंगे जो दुष्कर्म अब फलीभूत हो रहे हैं। यों विचारने वाला द्वेषियों द्वारा अपकृत होकर भी सन्ताप का अनुभव नहीं करता।

जिसको मैं अपना सुहृत, मित्र समझता रहा, जब वह मेरा नुकसान करता है तब यों विचार करे: यह निशिचत है कि पहले किसी जन्म में मैंने भी अपने सुहृत् के साथ कोई ऐसा व्यवहार किया था जिससे उसको दुःख हुआ था। मित्र मेरा नुकसान करे तब निश्चय हो जाता है कि मैंने भी पहले किसी के साथ ऐसा ही व्यवहार किया होगा तभी आज मुझे ऐसा भोगना पड़ रहा है। जो मैंने पूर्व में कर्म किया था उसी का फल यह सिद्ध हो रहा है। इसे सहन करके खत्म कर दिया तो ठीक है। यदि इसकी प्रतिक्रिया में मैं पुनः द्वेषादि करूँगा तो आगे के लिए और पाप का बोझा बटोर लूँगा। अतः जो दुर्जन नहीं, मित्र ही है, उसका हृदय स्वभावतः अच्छा है, वह भी कभी अपमान आदि करे तो सहन कर लेना, उसके प्रति विरोधी भावना न बनाना ही साधक के लिए श्रेयस्कर है। इस विचार को टीकाकार ने 'परिसंख्या' कहकर बताया कि यह बार-बार सोचने की चीज है, निरन्तर सोचने की बात है। जो बन्दूक रखते हैं वे उसको चलाकर देखते रहते हैं कि ठीक से चल रही है कि नहीं। ऐसा नहीं कि जब डाकू आएगा तभी चलायेंगे।

यदि चलती न रहे तो जंग आदि लग जाने से मौके पर बन्दूक चल ही नहीं पायेगी। इसलिए बन्दूक को निरंतर काम में लेना पड़ता है। ऐसे ही ये विचार बारम्बार करते रहना पड़ता है तभी मौके पर कारगर होते हैं।

यहाँ जो चिंतन बताया वह अर्थापत्तिरूप है। कार्य देखकर उसके कारण को समझने का तरीका अर्थापत्ति है। किसी से मिलने जाओ, उसकी पत्नी बताये 'जी, वे आज घर में नहीं हैं', तो खुद समझ लेते हो कि कहीं बाहर गया है। कहाँ गया—यह नहीं पता चलता लेकिन कहीं बाहर है यह सामन्य ज्ञान हो ही जाता है। जो मेरा मित्र है, उसने मेरे साथ अमित्रता का व्यवहार किया; उसे ऐसे व्यवहार में प्रेरित करने के लिए इस जन्म में मैंने कुछ नहीं किया है तो पता चल जाता है कि पूर्व जन्म में जरूर कुछ किया था जिसका यह प्रभाव है। क्या किया होगा? सुहृद् के लिए जो विरंजन था अर्थात् ऐसा वैषयिक दुःख दिया था जो उसे विषयों के प्रति वैराग्यवान् बनाये। विषयों से वैराग्य ही मोक्ष की तरफ ले जाता है। शराब छुड़ाने के लिए एक दवाई है, जो खिला दो तो व्यक्ति जब शराब पियेगा तब उसे उलटी हो जायेगी। उलटी आने से कष्ट होता है। थोड़े समय में शराब छूट जाती है क्योंकि जिस चीज से दुःख होता है उससे मन हट जाता है। इसी तरह लौकिक मित्र जब दुर्व्यवहार करता है तब निश्चय होता है कि किसी से मैत्री करना बेकार है, सांसारिक राग क्षीण हो जाता है। उसी ऋण को आज यह मित्र चुका रहा है मेरे प्रति दुर्व्यवहार करके। यह मेरा अप्रिय कर रहा है तो मेरा इसके प्रति ही नहीं, सब सांसारिक मित्रों के प्रति राग क्षीण होगा जिससे मैं दृढ वैराग्य वाला होकर मोक्ष-साधना में प्रगति कर पाऊँगा। इसने अपनी प्रकृति से, स्वभाववश ऐसा नहीं किया क्योंकि इससे मेरी मित्रता रही है। मेरे द्वारा किये गये पूर्वजन्म के कर्मों के फलस्वरूप इसने ऐसा किया। ऐसा सोचकर हमें दुःख नहीं होता। हम जान लेते हैं कि मित्र का ऐसा व्यवहार जरूर हमारे ही पूर्वकर्मों का फल है क्योंकि हमें स्वयं ही पता है कि यह मित्र तो इस स्वभाव

वाला है नहीं। अत: हमारे वैराग्य को बढ़ाने के लिए अपने स्वभाव से विपरीत चेष्टा भी कर रहा है तो पूजा के योग्य है। अत: हमारे मन में ताप नहीं आना चाहिए।। २०।।

और भी कहते हैं:—

कश्चित् पुमान् क्षिपति मां प्रति रूक्षवाक्यैः श्रीमत्क्षमाभरणमेत्य मुदं व्रजामि।
शोकं व्रजामि पुनरेवमयं तपस्वी चारित्रतः स्खलितवानिति मन्निमित्तम्।।२१।।

किञ्च—कश्चित् पुमान् पुरुष: क्षिपति अधिक्षिपति मां प्रति रूक्षवाक्यैः परुषाक्रोशादिलक्षणैः अहं पुनस्तदा[न] केवलमेव तन्निमित्तं रोषं नोपैमि प्रत्युत श्रीमत्क्षमाभरणमेत्य मुदं व्रजामि मन्निमित्तं मदधिक्षेपे यथा प्रयुक्ते, यथा प्राकृतो जन: कुण्डलाद्याभरणं प्राप्य हृष्यत्येवं श्रीमत् श्रियायुक्तं शोभनं तत् क्षमैवाभरणमिवाभरणं विदुषां प्रशस्यत्वाद् एत्य संप्राप्याधिक्षेपकाले अविकारितया स्थित्वा चित्तप्रसादनं प्राप्य मुदं हर्षं व्रजामि गच्छामि। किन्तु शोकं तापं व्रजामि पुनरेवं—कथमयं तपस्वी दु:खी वराकश्चारित्रतः स्वधर्माच्चलितवान् प्रच्युतो मन्निमित्तं मदधिक्षेपादिति। स्वधर्मभ्रंशो हि नरकादिदु:खनिमित्तं तदनेन प्राप्तमिति। शोकं व्रजामि न कदाचिदप्यभिद्वेषं प्रतिकूलताम्।।२१।।

कोई पुरुष रूखे वाक्यों से मुझ पर आक्षेप लगाता है और मैं प्रशस्त क्षमारूप आभरण पहन पाता हूँ तो यह अति प्रसन्नता की बात है। बल्कि मुझे इसी बात का शोक है कि मेरे कारण उस दु:खी व्यक्ति को अपने सच्चरित्र से गिरना पड़ा!

कोई व्यक्ति अत्यन्त रूखे शब्दों से मेरे ऊपर आंक्षेप करता है, अत्यन्त कटु वाक्य बोलता है। मैं क्षमा को गहना बना लेता हूँ। क्षमा को जो गहना बना लेता है उसे समझा जाता है कि वह बड़ा ही योग्य है, क्षमाशील है। क्षमा कैसी है? अत्यन्त सुन्दरता देने वाली है। अत: क्षमा का गहना पहनकर मैं प्रसन्नता को प्राप्त होता हूँ। किसी

ने अत्यन्त कटु शब्दों से मेरे ऊपर आक्षेप किया और मैं क्षमा के गहने को पहनकर प्रसन्न हो गया! पुन: यह भी सोचता हूँ कि इसने जो मेरे ऊपर आक्षेप लगाया, कटु वाक्य कहे, वह इस बेचारे ने तप ही किया। कहीं-न-कहीं इसे दु:ख हुआ, तभी ऐसा कह रहा है। कई बार बड़े अफसर ने खूब डाँट दिया तो उसे कुछ कह नहीं पाते, घर आते हैं तो पत्नी ने भले ही कुछ किया नहीं है पर गलीचे का कोना मुड़ा है, उसी को बहाना बनाकर खूब जोर से उसको डाँटते हैं! इसी तरह वह व्यक्ति मुझसे ऐसा क्यों कर रहा है? किसी कारण से दु:खी होकर आया है, मुझे ऐसा कहकर अपना दिल हलका कर रहा है। किंतु इसने मुझे ही चुना जिससे मुझे क्षमा-अभ्यास का अवसर दिया। अत: मेरे हितके निमित्त से यह अपने स्वाभाविक संयत चरित्र से हटकर व्यवहार करने में प्रवृत्त हुआ। मेरे लिए इसे ऐसा करना पड़ा इसका मुझे खेद है। फिर भी मैं गाली खाकर क्षमा के गहने को पहन सकने के कारण प्रसन्न हूँ। इतना दु:ख जरूर है कि मेरे कारण यह बेचारा भ्रष्ट हो गया। उसे तो कठोर, परुष, आक्रोशपूर्ण आक्षेपात्मक दुर्वचन बोलने पड़े लेकिन मैं अत्यन्त शोभावाली जो क्षमा है उस आभरण को प्राप्त हो गया।

मैं चुपचाप बैठा हूँ तो कोई नहीं कहेगा कि 'यह क्षमाशील है'। जब कोई गाली-गलौज दे और मैं क्रोधादि न करूँ, तभी मेरा क्षमा आभरण प्रकट होगा। मेरा क्षमारूप गहना तभी देखा जा सकता है जब कोई मेरे साथ रूखा व्यवहार करे, कड़वा व्यवहार करे। मैं क्षमा का गहना पहनकर प्रसन्नता को प्राप्त करता हूँ। मेरी यह शोभा इसी ने प्रकट की जैसे सांसारिक व्यक्ति कुण्डलादि गहने पहन ले तो प्रसन्न होता है, इसी प्रकार इसके द्वारा गाली देने पर मुझे क्षमारूपी गहना मिल गया। क्षमाशील व्यक्ति को भी देखकर लोग कहते ही हैं, 'देखो, कितना सुन्दर व्यक्ति है'। इसलिए जैसे गहने मिलने पर लौकिकों को प्रसन्नता होती है वैसे ही गाली मिलने पर मुझे प्रसन्नता होती है क्योंकि

तब मेरा क्षमा रूप गहना प्रकट होता है। जैसे गहना मनुष्य को सुन्दर बना देता है वैसे ही क्षमा भी मनुष्य को सुन्दर बना देती है। संस्कृत में कई वाक्य हैं जहाँ विभिन्न गुणों को भूषण कहा है। भूषण की तरह अलंकृत करने वाले होने से उन्हें भूषण, आभरण, गहना कहते हैं। 'करस्य भूषणं दानम्' हाथ का असली गहना दान है। कड़ा पहनने से हाथ की शोभा नहीं होती है। इसी तरह सुन्दर सत्य वाक्यों का प्रयोग ही मुख का असली गहना है। ऐसे ही क्षमा भी गहने की तरह ही मनुष्य की शोभा है। आभरण शब्द का मूल अर्थ है किसी चीज को भर देना, पूरा कर देना। गहना पहनने पर ही आदमी पूरा तैयार हुआ माना जाता है अतएव गहनों को आभरण कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के अन्दर क्षमा न हो तो वह पूरा नहीं माना जाता। उसकी पूर्णता क्षमा द्वारा ही होती है।

यह याद रखना चाहिए कि क्षमा आभरण तब बनती है जब तुम सामने वाले को दण्ड देने में समर्थ हो। कोई साढ़े सात फुट का पहलवान आकर तुम्हें गाली देता है और तुम कहते हो 'माफ कर दिया'। यहाँ तुम्हें क्षमा के आभरण वाला नहीं समझा जाएगा। सब कहेंगे–डर गया। परन्तु तुम लम्बे तगड़े हो और कोई कमजोर व्यक्ति तुम्हें गाली आदि देता है, फिर भी तुम उसके ऊपर क्रोध नहीं करते तब लोग कहेंगे कि क्षमाशील हो। अत: जहाँ दण्ड देने की सामर्थ्य नहीं है वहाँ की क्षमा, क्षमा नहीं है। क्षमा का मूल अर्थ है सहन करना। पहाड़ में जाने पर अगर हम ठण्डे पानी से नहाएँ तो कोई तपस्या की बात नहीं क्योंकि वहाँ तो नहाना ही पड़ेगा। पर अगर जहाँ गर्म पानी मिलने की संभावना है वहाँ भी ठण्डे पानी से नहाओ तब माना जाएगा कि यह सहनशील है। क्षमारूप आभरण हमें पूर्ण तब करता है जब हम उसको प्रकट करें।

यह प्रशंसा किससे मिलती है? विद्वानों के लिए ही क्षमा प्रशस्त है। मूर्ख लोग इसके महत्त्व को नहीं समझेंगे। मूर्ख तो कहेंगे कि ईंट

का जवाब पत्थर से देना ठीक है। परन्तु विद्वान् ही समझ सकते हैं कि क्षमा के भूषण से कोई पूर्ण हो सकता है। लौकिक गहनों की कीमत भी जौहरी या सुनार ही समझ पाता है या गहने पहनने से व्यक्ति का जो सौन्दर्य खिलता है उसकी प्रशंसा भी वही कर सकता है जो सौन्दर्य के बारे में जानकारी रखे। अनजान लोग सही चीज की प्रशंसा भी नहीं कर सकते। इसी प्रकार विवेकी पुरुष, वैराग्यवान् ही क्षमा की कीमत को समझ सकता है। साधारण पुरुष नहीं समझ सकते। जब अधिक्षेप किया जा रहा है तब मेरी इस क्षमा से विद्वान् लोग बड़े ही प्रसन्न होंगे इसलिए मैं बिल्कुल भी विकृत नहीं होऊँगा। बहुत से लोग यह नियन्त्रण तो कर लेते हैं कि दूसरे पर गुस्सा नहीं करते लेकिन उसकी बातों से उन्हें दुःख तो हो ही जाता है। मुख पर वह दुःख आ भी जाता है। परन्तु जो असली क्षमाशील है उसमें कोई विकार नहीं आता। जब मन में क्षमारूप गहना दृढ हो जाता है तब अन्यों के दुर्व्यवहार से दुःख भी नहीं होता। यही चित्त की प्रसन्नता है। भगवान् ने गीता में कहा– 'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते'। विवेकी चित्त के प्रसाद, प्रशान्ति को प्राप्त कर लेता है, फिर कठोरतम परिस्थिति में भी उसमें रजोगुण या तमोगुण का उद्रेक नहीं होता।

यहाँ प्राप्ति का अर्थ है अनुभव करना। कोई चीज हमारे पास है परन्तु प्रकट नहीं है। किसी निमित्त से फिर प्रकट होती है तो 'प्राप्त हो गयी' ऐसा कहते हैं। इसी प्रकार इस आक्षेप के निमित्त से हमें ज्ञान हो जाता है उस क्षमागुण का, कि कितनी भयंकर परिस्थिति में भी मेरा चित्त अविकारी रह गया। हमारे शरीर में चलने की कितनी शक्ति है यह हमें स्वयं भी नहीं पता परन्तु किसी परिस्थिति के अन्दर जब बीस मील चलकर जाते हैं तब देखते हैं 'अच्छा! मैं तो बीस मील चल सकता हूँ!' शक्ति तो हमारे में थी पर निमित्त न आने से प्रकट नहीं हुई। इसी प्रकार अपमान की परिस्थिति आने पर ही हमें पता चलता है कि मेरा चित्त क्षमावाला है। मेरी अपनी शक्ति ही मेरे

अपने ही अज्ञान के कारण अप्रकट रहती है। प्रकट होने पर हर्ष होता है कि मैं ऐसी परिस्थिति में भी अविकारी बना रहा।

क्षमा की और भी शोभा प्रकट करते हैं: मैं सिर्फ प्रसन्न ही नहीं हुआ, मुझे दुःख भी हुआ। क्यों? क्या गाली खाने के कारण दुःख हुआ? नहीं, इससे तो खुशी हुई। दुःख मुझे इस बात का है कि यह तपस्वी है, दुःखी है। इसे किसी कारण से दुःख हुआ है तभी मुझ पर निर्हेतु आक्रोश कर रहा है। कहीं-कहीं चरित्र और धर्म में फ़र्क भी किया है। अनेक कर्मकाण्डी यही मानते हैं कि यज्ञादि ही धर्म है। लोक में भी ऐसा ही है। प्राय: करके जो अश्वमेधादि यज्ञ करता है या आज के काल में मन्दिर आदि बनवाकर यज्ञ करता है, उसके बारे में लोग कहते हैं कि बड़ा धार्मिक काम करते हैं। कुछ अन्य लोग कहते हैं कि असली धर्म तो सत्य, क्षमा, दया, धैर्य आदि है। अत: चोरी, लूटपाट, धोखाधड़ी आदि से पैसा कमाकर मंन्दिर, यज्ञादि में लगाने पर कर्मकाण्डी उसे धार्मिक कृत्य ही मानता है जबकि दूसरी दृष्टि वाले इसे धार्मिक नहीं मान पाते। आचार्य शंकर ने यह स्पष्ट किया है कि सत्यादि जो चरित्र-शब्द से कहे जाते हैं तथा यज्ञादि, दोनों ही धर्म हैं। सत्य का स्वरूप बताया कि यथार्थ, प्रिय और हितकर होना चाहिए। केवल यथार्थ लेकिन अप्रिय, अहितकर हो तो आंशिक सत्य ही कहा जायेगा। आचार्य शंकर मानते हैं कि ऐसा सत्य पालन करनेवाले ने धर्म का कुछ हिस्सा रखा, कुछ छोड़ दिया। इसी प्रकार मंदिर बनानेवाले ने मंदिर बनाने का धर्म तो कर लिया पर चोरी, धोखाधड़ी आदिका पाप भी किया। उसको धर्म का अलग फल मिलेगा और अधर्म का अलग फल मिलेगा। हर हालत में कुछ धर्मों का नाम ही चरित्र है।

मुझ पर अकारण क्रोधादि किया तो यह व्यक्ति चरित्र से चूका अत: स्वधर्म से डिगा। मैं ही इसमें निमित्त बना। मैं सामने आया तभी इसे गुस्सा आया। मैं नहीं होता तो किसको गालियाँ देता? अत: मेरे ही कारण उसने अपने चरित्र को छोड़ा। मुझे यही दुःख है कि मेरे

कारण यह अपने धर्म से भ्रष्ट हुआ। मैं अगर नहीं होता तो यह गाली नहीं देता, धर्म से भ्रष्ट नहीं होता। अब यह धर्म से भ्रष्ट हो गया। अपने धर्म से भ्रष्ट होने पर नरक जाना पड़ता है या यहीं दुःख भोगने पड़ते हैं। बीमार पड़ना, पुत्र मर जाना आदि क्यों होते हैं? जब हम धर्म को छोड़ते हैं तभी ऐसा सब होता है। मनुष्य शरीर के अन्दर हम बहुत ज्यादा दुःख भोग नहीं सकते, न बहुत ज्यादा सुख ही भोग सकते हैं। सुख भोगने की शक्ति भी थोड़ी है।

एक आदमी हृदय-रोगी था। उसने कोई लाटरी लगाई थी और उसमें उसे एक करोड़ रुपया आ गया। उसकी घरवाली ने सोचा कि यदि इसे कहेंगे तो कहीं इसको हार्ट-अटैक न आ जाए। डॉक्टर से पूछा कि 'इसको खबर दे दें?' डॉक्टर ने कहा, 'नहीं, तुम मत कहो। मैं इसको धीरे-धीरे तैयार करता हूँ'। डॉक्टर ने उस आदमी को बुलाकर कहा 'तुम्हें दस हजार मिल जाएँ तो क्या करोगे?' बोला, 'आधे तुम्हें दे दूँगा'। डॉक्टर ने फिर पुछा, 'लाख रुपये मिल जाएँ तब क्या करोगे?' उसने कहा 'तब भी आधे तुम्हें दे दूँगा'। आदमी सोच रहा था कि यह तो ऐसे ही गप्प मार रहा है। डॉक्टर ने पूछा, 'एक करोड़ मिल जाएँ, तब क्या करोगे?' उसने फिर कहा, 'तब भी तुम्हें आधे दे दूँगा।' डाक्टर को तो पता था कि इसके पास सचमुच एक करोड़ हैं, जैसे ही पता चला कि आधा रुपया मुझे दे देगा वैसे ही मारे खुशी के उसका हार्ट फेल हो गया! हम अकस्मात् प्रसन्नता की बात को भी नहीं सहन कर पाते।

इसी प्रकार दुःख सहन नहीं होता। अंग्रेजों के समय जो लोग आजादी की लड़ाई लड़ते हुए जेल में जाते थे उन्हें नमक के पानी में भीगे हुए बेंत से मारा जाता था। अदालत दण्ड देती थी कि इतनी बार बेंत मारे जायें। मान लो बीस बार का दण्ड हुआ, प्रायः पाँच-छः बेंत खाते ही आदमी बेहोश हो जाता था। बचे पन्द्रह बेंत उस हालत में मारना बेकार था अतः होश में आने की इन्तजार करते थे, जब

होश में आये तब फिर मारते थे। अतः मनुष्य न कोई बड़ा दुःख सहन कर सकता है न सुख। नरक लोक में कढ़ाई में बरसों तक तले जायेंगे पर मरेंगे नहीं। तलवारें शरीर को काटती जाएँगी पर मरेंगे नहीं। वैसी यंत्रणा सहने के लिए वैसा ही शरीर मिल जाता है। इसलिए यह मानना ग़लत है कि इस पृथ्वी पर ही स्वर्ग-नरक है। अतितीव्र सुख-दुःख भोगने के लिए आवश्यक शरीर और विषय ही यहाँ नहीं हैं कि यहीं स्वर्ग-नरक हो सकें।

अपने धर्म से जो च्युत होता है वह नरकादि दुःखों को भोगता है। वह नरक इस बेचारे को मेरे निमित्त से प्राप्त हो गया है यह मेरे लिए कष्ट की बात है। मैं तो इसे दण्डित करने के लिए कुछ करूँगा नहीं, बस क्षमा ही करूँगा। यदि मैं भी इसे दुःख दे देता तो यहाँ किये इसके पाप का यहीं फल मिल जाने से इसे आगे नरक न जाना पड़ता। कभी-कभी इसीलिए महात्माओं के अन्दर, आत्मज्ञानियों के अन्दर क्रोध भी देखने को मिलता है। दो महात्मा कहीं जा रहे थे। बातें करने में मशगूल थे तो ताजे बोये खेत के ऊपर से निकल गये, जहाँ बीज तैयार होकर थोड़े बाहर आ रहे थे वहां एक का पैर पड़ा। खेती करने वाला वहीं था। उसको गुस्सा आया कि देखकर नहीं चलते और एक लट्ठ मार दिया। महात्मा हँसकर आगे चलने लगा तो उसके साथी ने समझाया कि 'यह बेचारा गरीब किसान है, इसको क्या पता कि तुझे मारने का नतीजा क्या होगा। बाल बच्चे वाला है, नरक में जाएगा। इसको दो चार गाली सुना दो तो यहीं लेन-देन चुकता हो जायेगा, इसका परलोक नहीं बिगड़ेगा।' महात्मा ने मान लिया और उसको दो चार गाली सुना आए। अनेक बार दूसरे के कल्याण के लिए भी ऐसे कार्य किये जाते हैं। किन्तु मैं इसको क्षमा कर रहा हूँ। मैंने क्षमारूप भूषण को धारण कर लिया, पर मेरे कारण इसका धर्म भ्रष्ट हुआ और अब इसे नरकादि दुःख होंगे। कौन निमित्त बना? मैं। मैं इसलिए दुःखी हूँ कि मेरे कारण इसको आगे चलकर नरकादि भोगना पड़ेगा।

प्रश्न उठ सकता है कि जैसे उस कथा में महात्मा ने स्वयं दण्ड दिया, वैसे तुम क्यों नहीं दे देते? उत्तर है कि अभी मैं आत्मज्ञानी नहीं हूँ कि क्रोधादि का प्रदर्शनमात्र कर सकूँ बिना विचलित हुए। यदि मैं प्रतिरोध की सोचूँगा तो मेरा चित्त रजोगुण से आवृत हो जायेगा और आत्मज्ञान हो नहीं पायेगा। अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध होकर आत्मज्ञान हो जाए, इसके लिए मैं प्रवृत्त हूँ इसलिए मैं अपने को धर्म से च्युत नहीं कर सकता। फिर भी मेरे कारण से इसे नरक जाना पड़ेगा। इसलिए मुझे दुःख है, क्षोभ है। तात्पर्य है कि साधक अपने पर किये अत्याचार आदि के प्रतिरोध में किसी सज्जन या दुर्जन के प्रति विद्वेष आदि दुर्भावना न लाये, विवेकपूर्ण चिन्तन से अपनी शान्ति बनाये रखे ताकि साधनाभ्यास में रुकावट न आये।। २१।।

किञ्चान्यत्—

स्वधर्मपीडामविचिन्त्य योऽयं मत्पापशुद्ध्यर्थमिह प्रवृत्तः।
न चेत् क्षमामप्यहमस्य कुर्याम्मत्तःकृतघ्नो वद कीदृशोऽन्यः।।२२।।

स्वधर्मपीडां स्वधर्महानिं आत्मनः पुरा अविचिन्त्यानालोच्यात्यन्तारमणीयामपि योऽयं वराको मत्पापशुद्ध्यर्थं मदीयपापविशोधनाय मामधिक्षेप्तुमिह लोके प्रवृत्तः तस्य चेन्मम परोपकारिणः प्रत्युपकारकरणे क्षमामात्रमहं न कुर्याम्मतः कृतघ्नो वद कीदृशोऽन्यः। अक्षमायां तु क्रियमाणायां ध्रुवं कृतघ्नः स्यामिति सर्वावस्थासु क्षमेव तत् क्षमे वेत्यर्थः [क्षमेयैवेत्यर्थः]।।२२।।

अपनी धर्महानि की भी परवाह बिना किये यह मेरे पापशोधन के लिये प्रवृत्त हुआ। मैं इसे क्षमा तक न करूँ तो मुझ जैसा कृतघ्न और कौन होगा, बताओ।

और एक अंकुश बताते हैं—मेरे प्रति दुर्व्यवहार करने वाला ऐसा क्यों कर रहा है? मेरे पूर्वार्जित पापों का भोग कराकर मेरा पापभार

हल्का करने के लिए। मेरे इस शोधन के लिए वह बेचारा अपने धर्म की हानि भी सहने में हिचकिचा नहीं रहा तो क्या मेरा कर्तव्य नहीं बनता कि मैं इसे क्षमा करूँ? यदि मैंने धैर्य से इसे सहन न किया तो मैं ही कृतघ्न बनूँगा। मेरे पापों को मिटाने के लिए इसने मुझपर आक्षेप करने का पाप किया। 'मेरा धर्म नष्ट होगा'—इसकी इसने चिन्ता नहीं की। ऐसा नहीं है कि इसने बहुत विचार किया हो, हानि-लाभ का हिसाब लगाकर नहीं वरन् बिना विचारे मानों सहज भाव से इसने मुझे दुःख दिया ताकि मेरा पाप कम हो जाये क्योंकि दुःख देकर उसका हेतुभूत पाप नष्ट हो जाता है। मेरे पाप को हटाने के लिए इसने खुद अपने ऊपर पाप चढ़ा लिया। इसने मेरा इतना उपकार किया, यदि मैं इसको क्षमा भी न करूँ तो किए हुए उपकार को स्वीकार न करने वाला मैं कृतघ्न हो जाऊँगा। कृतघ्नता को सनातन धर्म में बहुत बड़ा पाप माना गया है। दूसरे ने तो मेरे लिए अपने ऊपर पाप लिया और मैं उसको क्षमा भी न करूँ तो मैं कृतघ्न ही होऊँगा।

जो प्राप्त धर्म होता है उसको स्वधर्म कहते हैं। कुछ धर्म ऐसे होते हैं जो मनुष्यमात्र होने से हमारे लिए प्राप्त हैं। कुछ हमें पुरुष होने के कारण, कुछ स्त्री होने के कारण प्राप्त हो जाते हैं। कुछ धर्म होते हैं जो वेद की दीक्षा लेकर द्विज होने के कारण हमें प्राप्त हो जाते हैं। कई प्रकारों से धर्मों की प्राप्ति होती है। कुछ धर्म गृहस्थ बनने से, कुछ ब्रह्मचारी बनने से प्राप्त हो जाते हैं। शास्त्र के द्वारा जिस विशेष स्थिति के लिए जो धर्म बताया गया है वह उस स्थिति वाले का स्वधर्म हो जाता है। धर्म शब्द का वर्तमान में जिस अर्थ में प्रयोग होता है ठीक वैसा ही तात्पर्य वैदिकों का नहीं है। हमारे सिद्धान्त में स्वधर्म अर्थात् अपने अधिकार के अनुसार धर्म निश्चित होता है जबकि आजकल अवैदिकों की नकल में अधिकार के भेद को बिना गिने ही धर्म को निश्चित मानने की कोशिश होती है। हमारे यहाँ एक का धर्म दूसरे के लिए अधर्म हो जाता है जब कि अवैदिक जिन क्रियाकलापों

को धर्म कहते हैं वे सभी के लिए धर्म ही रहते हैं। सनातन विचार समझने के लिए इस विशेषता को हमेशा याद रखना चाहिए। इसीलिए यहाँ भी केवल धर्मपीडा न कहकर स्वधर्मपीडा कहा। भगवान् ने गीता में भी अर्जुन को 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' कहा कि अपने धर्म के प्रति कम्पन करना योग्य नहीं है कि 'यह करूँ या न करूँ', क्योंकि तुम क्षत्रिय हो, युद्ध करना ही तुम्हारा कर्तव्य है। इसी प्रकार भगवान् ने कहा 'स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:'। जैसे ब्राह्मण के लिए पठन-पाठन स्वधर्म है, सेवा करना परधर्म। शूद्र के लिए सेवा करना स्वधर्म है, वेद पढ़ना परधर्म है। अत: सनातन धर्म समझने के लिए स्वधर्म का तात्पर्य समझना जरूरी है। आधुनिक लोग सोचते हैं कि हिन्दू धर्म भी अन्य मतों की तरह कुछ परिगणित क्रियाओं का समूह है। पर ऐसा नहीं है। हम पुरुष-स्त्री-ब्राह्मण-शूद्र-ब्रह्मचारी-संन्यासी आदि क्या हैं इसपर हमारा धर्म निर्भर करता है। इस धर्म को न समझने के कारण आजकल के लोग प्रश्न करते हैं कि यदि औरत 'सती' हो सकती है तो पुरुष 'सता' क्यों नहीं हो सकता! अगर पुरुष सता होगा तो उसको पाप लगेगा। क्योंकि आत्महत्या दोष है और पत्नी के मरने पर पति के लिए अन्वारोहण का अर्थात् चिता में जलकर मरने का विधान नहीं है। स्वधर्म के निर्णय के लिए पहले उसका 'स्व' क्या है, उसका स्वरूप क्या है, यह पता लगाना पड़ेगा तब उसके लिए उचित धर्म का विधान किया जायेगा। एक का स्वधर्म दूसरे के लिए परधर्म बन जाता है। जब भगवान् कहते हैं 'स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:' तब वहाँ धर्म से मतलब है जो हमें प्राप्त धर्म है; वर्ण, आश्रम, अवस्था के अनुसार धर्मों का निर्णय होता है। बहुत से धर्म ऐसे हैं जो हम युवावस्था में कर सकते हैं, वृद्धावस्था में नहीं कर सकते। इसलिए जो हमारा व्यक्तिगत कर्त्तव्य है वही स्वधर्म है। जब तक हम मनुष्य हैं तब तक मनुष्यधर्म हमें पालन करना होगा, जो पुरुष और स्त्री दोनों को करना होगा। परन्तु उसमें भी पुरुष अपने धर्म करेगा, स्त्री स्त्रीधर्म

को करेगी।

धर्म को हम परमात्मा का रूप समझते हैं। महाभारत में भी बताया है कि भगवान् धर्मस्वरूप हैं। भारत में कुछ सम्प्रदाय हुए जो धर्म को छोड़कर और किसी चीज को संसार का कारण नहीं मानते। जगत् का कारण सिवाय धर्म के और कोई नहीं है, धर्म के द्वारा ही सारा जगत् बनता है। 'सर्वं धर्मे प्रतिष्ठितम्'। धर्म के द्वारा ही यह संसार पैदा भी होता है, स्थित भी होता है और नष्ट भी होता है। अर्थात् परमेश्वर का लक्षण वे धर्म में घटाते हैं। इस मान्यता में गलती इसलिए है कि परमेश्वर का रूप धर्ममात्र नहीं है; धर्म भी उनका रूप है लेकिन उतना ही नहीं है। बाकि रूपों को नकारना ही इस मत की गलती है।

स्वधर्म पुन: नित्य और काम्य—दो तरह का है। जो कर्म हमें अवश्य कर्तव्य हैं, उनका फल चाहें या न चाहें किन्तु कर्म जरूर करने होंगे, न किए तो दोष होगा, उन्हें नित्य कहते हैं। जिन कर्मों के फल बताये हैं और उन फलों को चाहें तभी उन्हें करें ऐसा विधान है वे काम्य हैं। उन्हें करने से इच्छा पूरी होगी, न करने से कोई दोष नहीं होगा। कर्मसम्पादन के तरीके अलग-अलग हैं, अपनी संप्रदाय परंपरा के अनुसार ही कर्म करना धर्म है, पराई रीति से करना उचित नहीं, भले ही दूसरे के लिए वैसा करना ही धर्म है। जैसे, अग्निहोत्र की आहुति सूर्योदय के पहले भी दी जा सकती है और बाद में भी लेकिन जिस परम्परा में पहले देते हैं उसमें पहले ही देना उचित होगा, सुविध ानुसार समय बदलते नहीं रह सकते। जो इस प्रकार धर्मभेद को नहीं समझते हैं वे बार-बार यही कोशिश करते हैं कि सबलोग एक ही कार्य करें। सनातन धर्म है सब तरह के लोगों के लिए, सभी तरह के लोग एक ही कार्य करें ऐसा हो ही नहीं सकता क्योंकि सबकी अलग-अलग इच्छायें हैं, अलग-अलग योग्यताएँ हैं। जहाँ जबरदस्त वर्षा हो रही है वहाँ कोई पानी के लिए यज्ञ क्यों करेगा? जहाँ सूखा पड़ गया है वहीं पानी के लिए यज्ञ करेगा।

धर्मभेद की आवश्यकता को समझना चाहिए। थोड़े दिन पहले कोई औरत मुसलमान बनी। उससे पूछा गया कि 'आपको मुसलमान धर्म क्यों अच्छा लगता है?' उसने कहा कि 'इसमें मुझ पक्का पता है क्या करना है, क्या नहीं। जब मैं हिन्दू थी तब मुझे पता ही नहीं था।' विचार करो; एलोपैथी में एक-एक रोग की दस-दस दवाएँ हैं, रोगों के बीसियों प्रकार हैं, रोग पता लगाने के हजारों परीक्षण हैं और इलाज करने वाले सैकड़ों विभाग हैं। इससे विपरीत, बायोकैमी में मात्र बारह दवायें हैं, उन्हीं से सब रोगों का उपचार करते हैं, जाँच-पड़ताल, विशेषज्ञों आदि का झमेला नहीं है। क्या तुम एलोपैथी के अस्पताल बन्द कराने को तैयार हो क्योंकि उनमें हर रोगी के लिए एक निश्चित दवा न होकर अलग-अलग उपचार किये जाते हैं? हो सकता है कि दीर्घकाल तक एक रोगी के बारे में अलग-अलग डाक्टर अलग-अलग निदान करें और रोगी खुद को ठगा-सा महसूस करे कि 'मुझे अपने रोग का निश्चित पता नहीं है', और बायोकैमी के अनुसरण में ऐसी कोई दिक्कत नहीं होती, लेकिन फिर भी एलोपैथी ही विज्ञान के विकास का प्रतिनिधत्व करता माना जाता है न कि बायोकैमी। जैसे सब मर्जों की एक दवा नहीं हो सकती ऐसे सब लोगों के लिए एक ही धर्म नहीं हो सकता, अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार अपने धर्म का निर्धारण कर तब उसका पालन करना पड़ेगा। इसीलिए यहाँ 'स्वधर्मपीडा' कहा। जब हम स्वधर्म का पालन नहीं करते, धर्म की हानि करते हैं, तब धर्मरूप परमेश्वर को ही मानों पीडा पहुँचाते हैं। हम पर आक्षेप कर इस व्यक्ति ने स्वधर्म की हानि से धर्मरूप परमेश्वर को पीडित किया है।

'अविचिन्त्य' अर्थात् बिना विचारे; आदमी हमेशा पहले इस बात को सोचता नहीं कि 'मैं क्या करने जा रहा हूँ'। काम को करने के पहले आदमी को विचार कर लेना चाहिए कि मैं क्या करने जा रहा हूँ। किसी भी शास्त्रीय कर्म को करने से पहले हम संकल्प करते हैं। उसमें पहले काल का स्मरण करते हैं, युग, वर्ष, मास, पक्ष, दिन सभी

को याद करते हैं। फिर देश का स्मरण करते हैं कि इस देश में यह कर्त्तव्य करना चाहिए या नहीं। गाँव तक का स्मरण करते हैं। यह भी जरूरी है क्योंकि किसी देश या गाँव में कोई काम अकर्तव्य भी हो जाता है: जैसे एकादशी सब जगह की ही जाती है पर जगन्नाथपुरी में एकादशी का व्रत नहीं किया जाता है। कोई कहे कि 'वहाँ खा सकते हो तो सब जगह क्यों नहीं?' तो गलत सवाल है क्योंकि जो इस देश के लिए कर्त्तव्य है वह इसी देश के लिए होगा। काल और देश का विचार करने के बाद अपना विचार करते हैं कि मैं अमुक वर्ण का, गोत्र का हूँ, अमुक मेरे पिता थे, हमारे करने लायक यह कर्म है कि नहीं। बहुत-से कर्म किसी और के करने लायक होते हैं पर हमारे करने लायक नहीं होते। अपनी कुलपरम्परा याद करते ही तुरन्त चेतना आ जायेगी कि अपने यहाँ तो ऐसा नहीं होता है। वाजश्रवा ने संकल्प किया कि वे सर्वस्व दान कर देंगे पर दान देते समय अच्छी-अच्छी वस्तुएँ बच्चों के लिए रखने लगे और खराब चीजें दान करने लगे। पुत्र नचिकेता ने देखा तो सोचा कि पिताजी क्या कर रहे हैं! ऐसा दान तो महापाप है। उसने पिताजी से पूछा कि 'मैं भी तो आपकी प्रिय सम्पत्ति हूँ, मुझे किसको दान करेंगे?' पिता समझ तो गये कि वह क्या कह रहा है पर कुछ जवाब नहीं दिया। माँ को जो इष्ट नहीं ऐसी बात करने पर माँ बच्चे से कहती है 'मर जा!' पर उसका मतलब यह नहीं कि सचमुच मर जाये, उसका मतलब है कि इन बातों को मत उठा। वाजश्रवा ने भी ऐसे ही कहा 'तुझे यम को दान करता हूँ', तात्पर्य था कि चुप हो जा। पर जब नचिकेता मरने को तैयार होने लगा तब पिता ने कहा कि 'नहीं-नहीं ऐसी बात नहीं है'। पुत्र ने कहा कि क्या आजतक हमारे कुल में किसी ने झूठ बोला है? दादा-परदादा ने भी नहीं। पर यदि आज आप कहकर मुकरेंगे तो आज से अपनी परम्परा झूठ बोलने की हो जायेगी और जब कोई पूछेगा कि 'अरे! झूठ क्यों बोलते हो?' तब हमारे वंशज कहेंगे कि 'हमारे

यहाँ तो वाजश्रवा ऋषि के समय से झूठ बोलने की परम्परा चली आ रही है'। मरना-जीना तो क्षणिक घटनाएँ हैं, इनकी तरफ मत देखिये, कर्तव्य की तरफ देखना चाहिए। यों नचिकेता की तरह जब हम याद करते हैं कि 'क्या हमारे कुल में किसी ने ऐसा काम किया है', तब अपने आप जवाब आता है कि 'मैं ऐसा गलत काम करना क्यों शुरू करूँ'? ये बातें संकल्प करते समय विचार की जाती हैं कि मेरा कार्य मेरी परम्परा के अनुरूप है कि नहीं। फिर जो काम करने जा रहा हूँ उसका विनियोग किसमें है इसका विचार करते हैं। जिस फल के लिए कर रहा हूँ वह इस कर्म से होगा या नहीं—यह सोच लेना चाहिए। पहले इन सब बातों का विचार करके फिर कर्म करना चाहिए।

किन्तु इस व्यक्ति ने यह सब समझ-बूझकर मुझसे व्यवहार नहीं किया है। यह पाप की विशेषता है कि वह अपने को हमेशा रमणीय दिखाता है पर उसका फल भयंकर होता है। घूसखोरी प्रारम्भ हुई इसलिए कि गलत काम करा लिए जायें पर आज उसका फल हो गया है कि सही काम के लिए भी घूस देनी पड़ती है और कई बार इसीलिए देनी पड़ती है कि हमें नाहक ही परेशान न किया जाये! घूसखोरी का पाप हमने ही बोया, उसीके ये काँटे गड़ रहे हैं। इसी प्रकार जब पढ़ाई, नौकरी आदि में आरक्षण की पद्धति शुरू हुई थी, सन् पचास के आस-पास तब कुछ समझदारों द्वारा बहुत विरोध हुआ था। उनका कहना था कि किसी को भी सारी सुविधाएँ दो पर अन्त में योग्यता ही निर्णायक होनी चाहिए। पिछड़े वर्ग का मतलब है कि उसके पास सामग्री उपलब्ध नहीं है अतः सामग्री उपलब्ध कराई जाये। विरोध का नतीजा यह हुआ कि पंद्रह साल की मियाद तक ही वह पद्धति रखना घोषित हो पाया। उसके बाद पुनः मियाद बढाई गयी और बाद में उसे स्थाई किया गया। किन्तु जो लोग प्रारम्भ में इस व्यवस्था के समर्थक थे वे ही जब आज अपने लड़के—पोतों को महाविद्यालयों में प्रवेश और सरकारी विभागों में नौकरी व पदोन्नति से वंचित पाता देख रहे हैं तो

इसे बहुत बुरा बता रहे हैं। योग्यता को प्रश्रय न देकर अयोग्य को बढ़ावा देना गलत है पर शुरू में अच्छा लगता है। इसी तरह पाप पहले तो रंगीन लगता है, अत्यन्त रमणीय लगता है, बाद में ही उसका दुःखमय प्रभाव सामने आता है।

मुझे दुःख देने वाले इस व्यक्ति ने विचारपूर्वक ऐसा नहीं किया क्योंकि यह 'वराक', बेचारा है, विचार करने में असमर्थ है। 'इसके पाप हट जायेंगे इन कष्टों को सहकर' ऐसा इसने मेरे हित के बारे में विचार किया हो, ऐसा नहीं है। इसे तो ऐसा करना रमणीय लगा इसीलिए इसने किया पर उसका मुझे फल यह हुआ कि मेरा पाप समाप्त हो गया जबकि उसे परलोक में कष्ट भोगना पड़ेगा क्योंकि कर्म यह पाप का है। पाप दुःख देता है, कभी तत्काल, कभी कालांतर में और कभी आगे के किसी जन्म में। न समझकर ही सही पर व्यक्ति मेरा उपकारी ही निकला। उसके ऐसा करने पर मुझे उसका प्रत्युपकार करना चाहिए। उसे और कोई फायदा न पहुँचा पाऊँ तो कम-से-कम क्षमा करूँ, यही उचित है। जिसके प्रति उपकार करना चाहिए उसको मैं क्षमा भी न करूँ तो मुझसे ज्यादा कृतघ्न कौन होगा! क्षमा न करके यदि मैं उसे दण्ड दूँ तो निश्चित है कि कृतघ्न होऊँगा। इस प्रकार विचार कर सब अवस्थाओं के अन्दर क्षमा ही करना चाहिए। टीका में 'सर्वावस्थासु क्षमैव कार्या, तदक्षमेवेत्यर्थः' पाठ समझ सकते हैं अर्थात् जैसे वह व्यक्ति अक्षमा ही करता है वैसे साधक क्षमा ही करे। अथवा केवल 'क्षमेयैवेत्यर्थः' पाठ हो सकता है कि मैं सब स्थितियों में क्षमा ही करूँ।।२२।।

सततसुलभदैन्ये निस्सुखे जीवलोके यदि मम परिवादात् प्रीतिमाप्नोति कश्चित्।
परिवदतु यथेष्टं मत्समक्षं तिरो वा जगति हि बहुदुःखे दुर्लभः प्रीतियोगः।।२३।।

सततसुलभदैन्ये सततं सर्वदा सुलभं दैन्यं दीनत्वं यस्मिन् सततसुलभदैन्यः तस्मिन् निस्सुखे सुखवर्जिते जीवलोके संसारे यदि मम

परिवादात् परिवादनमात्रादपि प्रीतिं सुखं आप्नोत्यवाप्नुयात् कश्चित् स वराकः परिवदतु परिभवतु यथेष्टं यथाकामं मत्समक्षं मम प्रत्यक्षं परोक्षं वा जगति संसारे हि यस्मात् बहुदुःखे अनन्तक्लेशे दुर्लभो दुष्प्रापः प्रीतियोगः सुखसम्बन्धः तस्मान्मम परिभवान्मन्निन्दयापि सुखी वराकः स्यादिति क्षमैव कार्या।।२३।।

दीनता जहाँ सुलभ है ऐसे सुखहीन संसार में अगर मेरी निंदा से कोई सुख पाता है तो मेरे मुँह पर या पीठ पीछे, जैसे चाहे निंदा करे, क्योंकि दुःखबहूल जगत् में सुख का मौका दुर्लभ है।

क्षमा की उपयोगिता बताते हैं—संसार में दुःख अतिसुलभ है, प्रसन्नता अतिदुर्लभ है। यदि मेरी बुराई आदि करने से किसी को प्रसन्नता होती है तो उसका वह सुख का मौका मैं क्यों छीनूँ? न जाने कितने दुःखी जीवन में इसे यह एक सुख लेने का अवसर आया हो! मैं प्रतिवाद आदि द्वारा वह सुख इसे न लेने दूँ यह उचित नहीं। संसार बहुत दुःखों से भरा हुआ है। यहाँ पर सुख का संबन्ध होना बड़ा दुर्लभ है। जीव-लोक अर्थात् जीवों के अनुभवों की परम्परा में दीनता अत्यन्त सुलभ है। दुःख तो संसार में अत्यन्त सुलभ है। सुख के लिए लाख चेष्टा करो तो भी नहीं मिलता है। दुःख बिना प्रयत्न के ही मिल जाता है। यदि मेरी निंदा आदि करने के द्वारा मुझे दुःख देने से किसी को प्रसन्नता होती है तो वह चाहे जितनी मेरी निंदा करे; मेरे सामने करे या पीठ-पीछे करे। ऐसी निन्दा करने पर यदि किसी को संसार में सुख हो जाए तो यह बहुत ही अच्छी बात है। इस संसार में दुःख का प्रवाह तो सदा है परन्तु अपने कारण से यदि किसी को थोड़ा-सा भी सुख मिल जाए तो अत्यन्त ही अच्छी बात है। जैसे रेगिस्तान में पानी दुर्लभ होता है तो वहाँ लोग खुद कम पानी पीकर अतिथि को पानी पिलाते हैं, दूसरे को सुख पहुँचाते हैं, इसी प्रकार संसार में दुःख की बहुलता है और सुख कभी-कभी मुश्किल से मिलता है। दीनता, दुःख

इसमें सुलभ हैं। संसार में दुःख के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वह हमेशा ही होता रहता है। बीमारी के इलाज के लिए तो अस्पताल खोले जाते हैं पर कोई बीमार पड़े इसके लिए कोई संस्था नहीं बनी है! बीमार होना सुलभ है। ऐसे ही दुःखी होना अनायास ही संभव होता रहता है।

यहाँ दुःख न कहकर दैन्य कहा। दैन्य, दीनता अर्थात् अपने को असहाय महसूस करना। दुःख तो प्रारब्धवश आता-जाता रहता है पर यह असहाय होने का, बेसहारा होने का भाव जिस जीव में घर कर जाता है वह हमेशा अवसादग्रस्त, शोकमग्न रहता है। कठिन रास्ता भी गंतव्य तक पहुँचाकर समाप्त हो जाता है। जो गंतव्य के प्रति निश्चित और उत्सुक है वह रास्ते के क्लेश उत्साह से सह लेगा, दुःखी भले ही होगा, दीन नहीं बनेगा। वही आदमी दीन बनता है जो अपने को असहाय समझता है। गन्तव्य का मार्ग मालूम न हो और जिस पर चल रहे हैं उससे गंतव्य को प्राप्त नहीं ही कर सकते ऐसा निश्चय हो, तो मन में दीनता आती है। जिस आदमी को पता है कि चाहे जितनी तकलीफ हो, रास्ता गंतव्य तक पहुँचायेगा ही, वह जरूर रास्ते को पार कर लेगा, वह दीनभाव को कभी भी प्राप्त नहीं करता। जो परमेश्वर के विषय में जानते हैं वे कभी भी असहाय अनुभव नहीं करते क्योंकि वे जानते हैं कि हमारा सहायक ईश्वर तो हमारे पास ही है, चाहे हम कहीं भी जायें। जो इस बात को नहीं जानते वे ही दीन होते हैं।

प्रायः यह अनुभव में आता है कि पहले लोगों के पास धन-सम्पत्ति, कपड़ा-मकान सब कम थे फिर भी सुखी रहते थे और खाने-पीने को दिन में एक बार मिल जाए तो भी काम चलता था; वे यही सोचते थे कि यह सृष्टि परमेश्वर के द्वारा ही पालित है, वह हमें यहाँ लाया है तो हमारे खाने-पीने का इन्तजाम भी करेगा। बंगाल में एक 'ब्राह्म समाज' था जिसका प्रारम्भ राजा राममोहन राय ने किया था। उस सम्प्रदाय के एक प्रचारक रामकृष्ण परमहंस से मिलने आया

करते थे। एक दिन उन्होंने परमहंस जी से कहा कि 'आप हमारे यहाँ आकर देखिए कि हर रविवार को हम कैसे सत्संग आदि करते हैं'। परमहंस जी ने कहा 'आ जायेंगे'। वे वहाँ गये, उनकी प्रार्थना आदि सुनी। बाद में प्रचारक ने पूछा कि 'आपको हमारी यह प्रार्थना कैसी लगी'? रामकृष्ण परमहंस ने कहा कि 'मुझे एक बात समझ में नहीं आई: जब मेरे पिता ने मुझे जन्म दिया है तो वही मेरे खाने-पीने का इंतजाम भी करेगा, कोई पड़ौसी तो आकर खाना देगा नहीं! तुम लोग भगवान् ने भोजन दिया इसका उन्हें धन्यवाद क्यों देते हो?' उनका तात्पर्य था भगवान् हमें भोजनादि दें यह कोई अप्रत्याशित बात नहीं, एक स्वाभाविक नियम है कि वे अपनी सृष्टि की सँभाल भी करेंगे। दीनभाव तभी आता है जब हम परमेश्वर के स्वरूप को नहीं जानते। हमारे जीवन की व्यवस्था करना उसका काम है। जो नहीं जानता कि परमेश्वर पल-पल और क्षण-क्षण में मौजूद है वह सदैव दीनता का अनुभव करता है क्योंकि वह परमेश्वर की शक्ति-सम्पन्नता को नहीं जानता है। चूँकि यह अज्ञान सुलभ है इसलिए दीनता भी सर्वसुलभ ही है। यह संसार वास्तविक सुख से वर्जित है क्योंकि यह तृष्णा से युक्त है। संसार में सभी चीजें निरन्तर बदलती रहती हैं और उनके बदलने पर मुझे भी अपने बदलने का आभास हो जाता है। मैं बदल तो नहीं सकता पर नामरूपादि के कारण बदले हुए की प्रतीति हो जाती है। जैसे गिरगिट हरे पत्तों में होती है तो हरी दीखती है, लाल फूलों के बीच में लाल दीखती है, जैसा वातावरण होता है वैसा ही उसका रंग होता है, परन्तु सच में उस पर कोई रंग चढ़ता नहीं है क्योंकि सच में अगर रंग चढ़े तो वह उसी रंग की बनी रहे। ठीक इसी प्रकार से हम जिन-जिन परिस्थितियों के बीच में रहते हैं, उन परिस्थितियों वाले हो जाते हैं। परन्तु सचमुच में उस परिस्थितिवाले नहीं होते क्योंकि जब परिस्थिति बदलती है तो हम नई परिस्थिति वाले हो जाते हैं। इसलिए जीव का वास्तविक स्वरूप बदलने वाला नहीं है पर बदलने

वाली चीजों से अपने में बदलने का भान होता रहता है। वास्तव भूमिका पर जीव दु:खी नहीं है किंतु व्यवहार में उपाधिपरवश हुआ दु:खी आदि बना रहता है। अत: यहाँ 'जीवे' के बजाये 'जीवलोके' कहा। ईंट-पत्थर आदि संसार को नि:सुख दीन आदि कहना निरर्थक है। जीवकी ही लोक-प्रधानता अर्थात् विषय या उपाधिकी प्रधानता को लेकर उसे जीवलोक कहा।

सदा दु:खी कोई जीव यदि केवल मेरे परिवादमात्र से अर्थात् मेरे बारे में गलत बोलने मात्र से ही सुख प्राप्त करता है तो उसे करने देना ही उचित है। मेरा या किसी का भी कोई नुकसान बिना किये इतनी आसानी से सुखी होने का और कौन-सा उपाय मिलेगा! यहाँ सुख के लिए 'प्रीति' शब्द का प्रयोग है। उपनिषद् में जहाँ आनन्द का वर्णन किया है वहाँ प्रीति को आनन्दमय कोश का सिर कहा। आचार्य शंकर स्पष्ट करते हैं कि जिसे हम सुख का कारण समझते हैं उसे याद करने से जो सुख होता है वह 'प्रिय' है। अगर वह चीज़ सामने आ जाए तो 'मोद' हो जाता है। कई लोगों की आदत होती है कि दूसरों को परेशान करने के लिए ऐसी बात कहेंगे कि वह तिलमिलाएगा। ऐसा ही यह व्यक्ति है जो मेरे बारे में गलत बातें कहकर प्रसन्न होता है। इसे इसी प्रकार प्रीति, प्रसन्नता, सुख का अनुभव होता है तो इसे प्रसन्न होने देना ही चाहिए। इसके यों कहने से मेरा कुछ बिगड़ने वाला नहीं और इसे प्रसन्न होने का सुअवसर मिल जायेगा। यह चाहे तो मेरे सामने यों बोले और चाहे तो जहाँ मैं उपस्थित नहीं हूँ वहाँ बोले। किसी को तब मज़ा आता है जब मुँह पर गाली-गलौज करे और कोई पीठ-पीछे बुरा-भला कहकर ज्यादा प्रसन्न होते हैं, सामने तो मीठे बने रहते हैं। पर परोक्ष में निन्दा करने वाला भी कोई तो चाहता है कि उसे पता लगे जिसकी निन्दा हो रही है और कोई स्वयं छिपा रहना चाहता है। सभी प्रकार के लोगों को मैं छूट देता हूँ कि वे मुझे परिताप देकर प्रसन्न हो सकें तो अवश्य हों ताकि इस दु:खमय

जगत् में उन्हें मेरे निमित्त से कुछ तो राहत मिले।

जगत् का अर्थ होता है 'गच्छतीति' जो निरन्तर चलता रहे, ऐसे ही 'संसरति इति संसार:' जो निरन्तर सरकता रहे वही संसार है। संसार चल तो रहा है पर यहाँ बहुत-से दु:ख हैं, इसमें क्लेशों का कोई अन्त नहीं है। जितना-जितना क्लेशों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं उतना ही दु:ख बढ़ता जाता है, घटने का नाम ही नहीं लेता। यातायात के साधन बढ़ाकर हम लोगों ने सोचा कि दूरियाँ कम हो जाएँगी, झट कहीं आ-जा सकेंगे। किंतु हुआ क्या? पहले आने-जाने का कोई सुविधापूर्ण साधन नहीं था फिर भी भरत अपने पिता राजा दशरथ की अन्त्येष्टि करने इतनी दूर गान्धार देश से आया था। आज स्थिति है कि हमारे एक परिचित थे, उनका लड़का पढ़-लिखकर डाक्टर बना, अमेरिका चला गया। बाप बेचारा मरते समय लड़के को देखना चाहता था कि एक बार मिल ले, पर लड़का क्यों आता! बापके मरने पर तार लिखकर भेजा कि 'अन्त्येष्टि आदि कर लेना, खर्चा मैं भेज दूँगा'। फिर उसीकी माँ भी चाहती रही कि एकबार बेटा आये। वह बूढ़ी और बीमार थी। लड़के ने लिखा कि 'माँ, तुम किसी भी अस्पताल में जाकर इलाज कराओ, हम खर्चा भेज देंगे, पर भारत आने को मत कहो'। माँ मर गयी तो चाचा के लड़कों को तार भेज दिया कि उसको जला दो। वह अपनी माँ-बाप का एक ही बेटा है।

कहने को तो हवाईजहाज से चौबीस घंटे के अन्दर अमरीका से भारत पहुँच जाते हैं पर क्या पहुँचते हैं? देश की दूरी तो उतनी ही है, लेकिन हृदय की दूरी बहुत बढ़ गयी है इसलिए समय की दूरी कम होने के कोई मायने नहीं रहे। यातायात होने से हमने सोचा था दुनिया छोटी हो जायेगी पर ऐसा लगता है कि दुनिया बढ़ गई है। शहरों में दौड़-धूप में, भीड़ में फँसे-फँसे सारा समय चला जाता है। प्रत्येक क्षेत्र का अनुभव स्पष्ट करता है कि यह संसार अनन्त क्लेशों से पूर्ण है। कोई चाहे कि हम दु:ख को कम कर लेवें तो कोई सरल

तरीका नहीं है। जैसे सड़े-गले कपड़े को सीकर भी काम में नहीं ले सकते क्योंकि वह सिलाई को सह ही नहीं पाता, एक जगह टाँका लगाओ तो तेरह अन्य जगहों से फट जाता है, वैसे संसार में दु:ख घटा नहीं सकते, दु:ख दूर करने का उपाय करो तो अनेक नये दु:ख पैदा हो जाते हैं और कुल दु:ख बढ़ते ही हैं, कम नहीं होते। ऐसे संसार में इस व्यक्ति को अपना दु:ख घटाने का, सुख पाने का साधन मिलना दुर्लभ है। इसका सौभाग्य है कि मेरा परिभव करना—यह सरल उपाय इसके लिए कारगर हो रहा है। यह तो अच्छी बात है कि मैं इसकी प्रसन्नता में निमित्त बन रहा हूँ अत: मुझे क्षमा ही करना चाहिए, सहन ही करना चाहिए।। २३।।

मन्निन्दया यदि जन: परितोषमेति नन्वप्रयत्नजनितोऽयमनुग्रहो मे।
श्रेयोऽर्थिनो हि पुरुषा: परतुष्टिहेतोर्दु:खार्जितान्यपि धनानि परित्यजन्ति।।२४।।

मन्निन्दया मदीयदोषभावनेन यदि जनो लोक: परितोषं परितुष्टिमेति गच्छति। ननु अप्रयत्नजनित: अनायासलब्धोऽयमनुग्रहो मे मम। श्रेयोऽर्थिनो हि यस्मात् पुरुषा: परतुष्टिहेतो: परेषां सुखप्राप्तिनिमित्तं दु:खार्जितान्यपि कृषिवाणिज्याद्यनन्तदु:खार्जितान्यपीष्टहिरण्यादिधनानि परित्यजन्ति ब्राह्मणादिषु प्रयच्छन्तीत्यर्थ:। तस्माद्यन्मम निन्दामात्रेणाप्ययं जन: परितुष्टिमेति सोऽपि ममात्यनुग्रह इति मन्वान: क्षमामेवावलम्बयेत्।

सर्वथाप्यज्ञानान्नान्यन्निमित्तमस्ति अक्षान्तेरित्यङ्कुशकल्पनाया: समुदायार्थो यतस्तस्मादज्ञो मा भूवमिति विवेकज्ञानाङ्कुशेनानेनात्मानमुपशामयेद् इत्योमिति।।२४।।

पूर्व लोक का भाव ही अन्य तरह से व्यक्त करते हैं—यदि मेरी निन्दा करने से कोई संतुष्ट होता है तो मुझ कल्याणेच्छुक को अनायास ही उसकी कृपा प्राप्त हुई है क्योंकि दूसरे की संतुष्टि के लिए कल्याणेच्छुक लोग कष्टपूर्वक कमाया धन भी खर्च कर देते हैं।

दो तरह के लोग होते हैं— एक श्रेयोर्थी और दूसरे प्रेयोर्थी। प्रत्येक मनुष्य के सामने ये दो रास्ते खुले हैं—एक वह रास्ता है जो स्थाई सुख-शान्ति देता है, दूसरा वह रास्ता है जो मन को अच्छा लगता है, रमणीक लगता है। एक कथा आती है: दो आदमी कहीं जा रहे थे। उनको दो रास्ते मिले। एक रास्ता महीनेभर में पूरा होने वाला था, दूसरा तीन साल में पूरा होने वाला था। एक व्यक्ति ने महीने भर में पूरे होने वाले रास्ते को चुना। वह चला तो उसे पग-पग पर राक्षस इत्यादि मिले। कभी गड्ढे में गिर गया, कभी चट्टानों पर फिसल गया; चलते-चलते उसको दस साल लग गये जबकि जो तीन साल वाले रास्ते में चला वह तीन साल में पहुँच गया। अभिप्राय है कि जो चीज अच्छी लगती है वह कल्याणकारी होना जरूरी नहीं और जो कल्याणकारी हो वह अच्छी लगना जरूरी नहीं। जो धैर्यवान्, बुद्धिमान् होता है वह श्रेय के मार्ग को ही चुनता है जिससे वास्तविक कल्याण हो। जो ऐसा विवेकी नहीं होता वह केवल रमणीय मार्ग को चुनता है। जो श्रेय को चाहते हैं वे दूसरों की तुष्टि ही सोचते हैं। प्रेय पथ पर जाने वाले केवल स्वतुष्टि के बारे में सोचते हैं। इसलिए कहा है—

'अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।।'

व्यास जी कहते हैं कि अट्ठारह पुराणों में बार-बार विस्तार करके कहा है कि दूसरे का लाभ करना पुण्य है और दूसरे को पीडा पहुँचाना पाप है।

श्रेयोर्थी दुःख से कमाए हुए धन से भी दूसरों का कल्याण करते हैं, धन को दूसरे के लिए त्याग देते हैं। श्रेयोमार्गी को सामान्य भाषा में शास्त्रमुखी या गुरुमुखी और प्रेयोमार्गी को मनोमुखी कहते हैं। मनोमुखी व्यक्तियों को जो अच्छा लगता है वह करते हैं तथा शास्त्रमुखी

शास्त्रों के कहे अनुसार ही चलते हैं। गीता में पहले उनके बारे में बताया जो शास्त्र को प्रमाण स्वीकार कर व्यवहार करते हैं। फिर अर्जुन ने पूछा कि जो मजबूरीवश शास्त्र का अनुसरण नहीं कर पाते उनके लिए क्या गति है तब भगवान् ने त्रैगुण्य के अनुसार उनके बारे में वर्णन किया। भगवान् कहते हैं कि किसी का मन सत्त्वगुण-प्रधान होता है, किसी का रजोगुण-प्रधान तो किसी का तमोगुण-प्रधान होता है। जो गुण प्रधान होगा वही उसके मन को प्रवृत्त कर देगा। शास्त्रमुखी तो मनके अनुसार चलता नहीं अतः यदि उसका मन तमोगुणी भी हो तो फ़र्क नहीं पड़ता क्योंकि उसे मन के पीछे चलना ही नहीं है, केवल शास्त्र का अनुसरण करना है। पर जो शास्त्रविधि से नहीं चलने वाले हैं उनमें यदि सत्त्वगुण है तो उन्हें सत्त्वगुणी प्रवृत्तियाँ अच्छी लगेंगी, राजस को रजोगुणी प्रवृत्तियाँ और तामस को तामसी; तथा जैसा अच्छा लगेगा वैसा ही वे करेंगे। पूर्वजन्म में जैसी कर्मोपासना करके आये हैं वैसी ही प्रवृत्ति को यहाँ आकर भी दोहराते हैं। अगर तमोगुणी संस्कार लेकर आया है तो यहाँ आकर भी तमोगुण की तरफ ही प्रवृत्त होगा।

यहाँ भी किसी को सत्संग की प्राप्ति हो और वह समझ ले कि मनमाना नहीं करना है तब वह अपनी पहले वाली वृत्ति को छोड़कर शास्त्रोक्त मार्ग की तरफ जा सकता है, शास्त्र के कथनानुसार चल सकता है। जिसको ऐसा सत्संग मिले नहीं, मिलने पर भी उसके मन में विचार नहीं आये तो सुनकर भी अपने आचरण को बदलेगा नहीं, अपने मन की ही बात को मानकर चलता रहेगा। श्रेयोर्थी का निश्चय तो यह है कि अपने मन को अच्छा लगे, न लगे, शास्त्र जो कहेगा उसी को करूँगा। प्रेयोर्थी लोग सत्संग में भी जाते हैं तो खुद जिस चीज़ को मानते हैं उसके ऊपर मोहर लगवाने की इच्छा ही रखते हैं। अपने मनोनुकूल बात के समर्थन में महात्मा को, विद्वान् को उद्धृत करेंगे और उनकी अन्य बातों को तात्पर्यहीन घोषित कर देंगे। जो श्रेयोर्थी हैं वे शास्त्र के अनुकूल ही बातें करते हैं।

प्रेयोर्थी के तीन भेद बताये गये हैं। किसी को सत्त्वगुणी कहा, किसी को रजोगुणी और किसी को तमोगुणी कहा। जो श्रेयोर्थी है वह परतुष्टि के लिए ही प्रयास करता है और अत्यन्त दुःख से जो धन कमाया है उसका भी विनियोग इसीलिए कर देता है। धन कमाना बड़ा मुश्किल है। नौकरी करो तो हमेशा मालिकों की तरफ देखते रहो, चाहे जितनी गलत बात कहे लेकिन हाँ में हाँ मिलानी ही पड़ती है। सरकारी नौकरी में ऐसी जी हजूरी तो नहीं करनी पड़ती पर बात माननी ही पड़ती है, नहीं तो तबादला करके असम के जंगल में भेज देंगे। व्यापार करें तो सबेरे से शाम तक हर ग्राहक ही सिर चढ़कर बोलता है! संसार में सबसे बड़ा दुःख परतन्त्रता है। पराधीन व्यक्ति कभी भी सुखी हो नहीं सकता और धन कमाने के लिए संसार में हमें यह परतन्त्रता का दुःख भोगना ही पड़ेगा। शास्त्रानुकूल चलने वाला व्यक्ति यदि देखता है कि इस कष्टपूर्वक प्राप्त धन से सामनेवाले की तुष्टि होती है तो वह भी दे देता है। दूसरे की प्रसन्नता के लिए श्रेयोर्थी ही दे सकते हैं। प्रेयोर्थी देते तो हैं पर दूसरे की तुष्टि के लिए नहीं। वे तो लेने वाले की निकृष्टता को बढ़ाकर अपनी अहंमन्यता को बढ़ाने के लिए देंगे। उचित पात्र को यथोक्त देश-काल में कर्तव्यबुद्धि से दिया दान ही श्रेष्ठ है। प्रत्युपकार के लिए, कोई फल पाने के लिए, दुःखी होकर दान देना राजस है। देश-काल-पात्र का विचार किये बिना असत्कार और अवज्ञापूर्वक दिया दान तामस है। गीता में यह स्पष्ट किया है।

पहले गाँव में जब शादी होती थी, बारात में हजार आदमी तक आते थे। सबके खाने-पाने की व्यवस्था करनी पड़ती थी। जितना आटा चाहिए होता था उस हिसाब से सब घरों में गेहूँ दे दिया जाता था और सब मिलकर उसे पीस लेते थे। जो रिश्ते में बड़े होते थे वे खुद जाकर गेहूँ मांग लाते थे क्योंकि छोटा तो आकर कहेगा नहीं कि 'पीस दो'। सारा आटा लाकर एक बड़ी हण्डी में डाल दिया जाता था। कोई महिला न अपनी योग्यता बताती थी न कोई यह कहता था

कि मैंने इतना आटा पीसा। किसी उपकार की आशा नहीं थी, एक सहज व्यवहार था।

श्रेयोर्थी जब किसी के लिए कुछ करने में प्रवृत्त होता है तब उसे कोई आशा नहीं रहती कि बदले में उसको क्या मिलेगा। मैं मुमुक्षु हूँ, परमश्रेय का इच्छुक हूँ। अन्यों के संतोष के लिए मैं प्रयत्न करता ही रहता हूँ। यदि मेरे प्रयत्न के बिना भी मैं किसी के द्वारा की गई निन्दा का विषय बनकर उसके संतोष का कारण बन रहा हूँ तो यह मेरा बहुत बड़ा फायदा है। मैंने कोई प्रयत्न नहीं किया, बिना प्रयत्न के ही इस व्यक्ति को मेरे द्वारा तुष्टि हो गई तो यह इसकी मुझपर बड़ी कृपा है। लोक तो कुछ लेकर खुश होते हैं, यह बिना कुछ लिए ही मेरी निन्दा करके खुश हो गया, यह इसकी कृपा है। अगर मैंने कोई विरोधादि किया तो इसका आनन्द घट जायेगा अत: इसे सहन कर लेना ही हितकर है ताकि इसे प्रसन्न रखने का श्रेय भी मुझे प्राप्त हो। अगर मैंने उसके प्रति क्रूर व्यवहार नहीं किया तभी मैंने उसके व्यवहार को अनुग्रह स्वीकारा। अत: क्षमा ही करना मेरा फर्ज़ है।

निन्दा का अर्थ है दोष-भावना। दोषभावना दो तरह की होती है—एक तो गुणों में दोष देखा जाता है। क्षमा को भी गुण माना गया है। क्षमारूप गुण में भी लोग दोष की भावना करते हैं। दूसरा प्रकार है कि जिसमें जो दोष है उसी की भावना करना, बार-बार उसका चिन्तन कथनादि करना, उसी को उभारना। पहले प्रकार में तो अविद्यमान दोष का आरोप है और दूसरे प्रकार में विद्यमान दोष के ही प्रकाशन का प्रयास है बल्कि उसे कुछ बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने की कोशिश है। यही निन्दा है। संसार में जो भी व्यक्ति है उसमें कोई-न-कोई गुण और दोष होते ही हैं। कोई ऐसा हो नहीं सकता जिसमें कोई-न-कोई गुण न हो या दोष न हो। पर गुण की तरफ ध्यान न देकर दोष को देखना दुर्भावना है, निन्दा है। जो हमसे प्रीति करता है वह हमारे गुणों को ही देखता है, उनका चिन्तन करता है। दोषों का विचार भी इसलिए करता है कि

उन्हें दूर कैसे किया जाये। दुर्जन व्यक्ति सभी में, खासकर सज्जनों में दोष की भावना करता है। 'जन' का अर्थ है लोक अर्थात् जो केवल प्रत्यक्ष को ही मानकर चलता है। जिस चीज़ को वे देखते हैं अर्थात् इन्द्रियों द्वारा अनुभव करते हैं उसी को सच्चा मानने वाले लोक कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त शास्त्र की कोई बात उनको जँचती नहीं। यदि उनको शास्त्र की कोई बात जँची भी होगी तो वही जिसका वे अपनी इन्द्रियों द्वारा यहीं पर अनुभव कर लें। जैसे यह मान लेंगे कि तुलसी बड़ी अच्छी है *क्योंकि* उसके सेवन से मलेरिया नहीं होता, हाज़मा ठीक रहता है। यह है लौकिक दृष्टि। इस लोक को विचार में रखकर ही धर्म को भी वे मान पाते हैं। इसीलिए शास्त्र से जो असम्बद्ध हैं उन्हें लोकभाषा, लोकगान, लोकनृत्य आदि नाम दिये गये हैं। ऐसे दुर्जन लोक निन्दा करके बड़े खुश होते हैं। कभी रेल में जाओ तो लोगों की आपसी बातें सुनो, शायद ही कभी किसी की प्रशंसा के वाक्य सुनोगे। हमेशा निन्दा की बात सुनने में आयेगी कि यह खराब है, वह खराब है। अगर तुम कहो कि 'सब ऐसे नहीं होते' तो कहेंगे कि सभी खराब होते हैं, किसी का पता चलता है, किसी का नहीं चलता। इससे उनको बड़ा संतोष मिलता है कि संसार में खराबियाँ व्याप्त हैं।

जो व्यक्ति मेरी निन्दा में प्रवृत्त है वह अवश्य लोक है। मैंने इसकी किसी हानि के लिए कोई प्रयत्न, प्रयास आदि नहीं किया। मैंने कोई ऐसी बात नहीं की कि यह मेरी निन्दा करे। जहाँ प्रयासजन्य निन्दा होती है वहाँ मन में क्षोभ न होने से क्षमा का भी प्रसंग नहीं आता; बहुत-से लोग चाहते हैं कि कोई हमें कुछ कहे! एक बार एक राजा से बहुत बड़ा पाप हो गया। उसने अपने गुरुजी से पूछा कि इसका प्रायश्चित्त क्या है? गुरु जी ने कहा कि 'इस बात को चारों तरफ फैलाओ कि तुमने यह पाप किया है; लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे। जो-जो निन्दा करेगा वह तुम्हारे पाप के थोड़े हिस्से को लेता जाएगा। इस तरह तुम्हारा पाप खत्म हो जायेगा'। राजा ने ऐसा ही किया। कुछ समय

बाद गुरु जी से पूछा कि 'वह पाप खत्म हुआ कि नहीं'? गुरु जी ने कहा 'अब थोड़ा-सा ही रह गया है। क्योंकि तुम्हारे राज्य में अमुक व्यक्ति है, वह तुम्हारी निन्दा मन में भी नहीं करता। वह भी निन्दा कर दे तो पाप खत्म हो जायेगा'। राजा ने कुछ लोगों को भेजा कि 'जाकर मेरे पाप का प्रचार करो तो शायद वह मेरी निन्दा करे'। लोग गये, तरह-तरह से बातें चलाई पर उसके मुँह से कोई निन्दा का वचन नहीं निकला। अन्त में राजा स्वयं जाकर कोशिश करने लगा। वह व्यक्ति राजा को पहचान गया, बोला 'राजन्! इतना दण्ड तो तुम्हें भोगना ही पड़ेगा, तेरे पाप में मैं हिस्सा बँटाने वाला नहीं'। राजा भी समझ गया। इसलिए हम किसी की निन्दा करते हैं तो उसी के पाप को ले लेते हैं।

पुराने ज़माने में 'स्कर्वी' नामक चर्मरोग होता था। दवाईयाँ थी नहीं। अत: खाल पर खाद्य वस्तु लगाकर कुत्ते से चटवाते थे क्योंकि कुत्ते की जीभ में कुछ ऐसे तत्त्व होते हैं जो उस रोग को बढ़ने नहीं देते। कुत्ता रुग्ण स्थल को चाटे कैसे? इसके लिए उस पर कोई खाद्य पदार्थ लगा देते थे, कुत्ता चाट देता था, रोग ठीक हो जाता था। उसी प्रकार से निन्दा से होने वाले सुख के लिए हमारी निन्दा करके हमारे ही पाप को कम कर देता है। कुत्ते से चटवाने के लिए तो कुछ प्रयास करना भी पड़ा पर यहाँ मैंने कोई प्रयास नहीं किया कि मेरी निन्दा हो! इसलिए यह मेरे ऊपर उसका बड़ा भारी अनुग्रह है कि उसने मेरी निन्दा की। मैं श्रेय चाहता हूँ। श्रेय पाने के लिए दूसरों को सन्तुष्ट करना पड़ता है और दूसरा संतुष्ट हो इसके लिए धन खर्चना पड़ता है। इस व्यक्ति ने मेरा इतना धन बचा दिया यह इसकी कृपा है। बचे धन के प्रयोग से मैं अन्य किसी को संतुष्ट कर सकूँगा, यह भी इसकी इस कृपा से ही संभव होगा कि इसने इतना धन बचा दिया। इसलिए इसका मुझ पर बहुत ही अधिक अनुग्रह है।

धन कमाना कष्ट-साध्य है इसमें सुस्पष्ट दृष्टांत कृषि का है। धूप

पड़ रही है, बीज बोना है, वर्षा हो रही पर खेत पर जाकर सफाई करनी है। चावल की खेती करते समय ऊपर से पानी बरसता रहता है और नीचे पैर पानी में डूबे रहते हैं। इतने कष्ट से खेती होती है। और भी अनेक दु:ख हैं धन कमाने में। ऐसे कष्ट से कमाये हुए धन को लोग दूसरों को दान करते हैं ताकि वे संतुष्ट हों जिससे दाता को श्रेय मिले। देय वस्तु कई बार दाता को इष्ट नहीं होती: जैसे हमने मोटर खरीदी, पंद्रह साल चला दी। अब उसकी जगह नई मोटर तो लेनी ही है, पुरानी को हटाना है तो सोचते हैं कि 'यह पुरानी मोटर मैनेजर को दे दें'। दे तो रहे हैं पर अपनी इष्ट चीज नहीं दे रहे, पुरानी ही दे रहे हैं। बहुत बार मनुष्य दान करता है पर इष्ट का दान नहीं करता। पर जो श्रेयोर्थी हैं वे कष्ट द्वारा कमाये गये इष्ट धन आदि वस्तुओं को भी दूसरों की तुष्टि के लिए छोड़ देते हैं, ब्राह्मण आदि को दे देते हैं। मुझे तो इष्ट-अनिष्ट किसी चीज का त्याग नहीं करना पड़ा, यों ही मेरे निमित्त इसे प्रसन्नता हो गयी जिससे मुझे श्रेयोलाभ हुआ अत: निश्चित ही मुझपर इसका अनुग्रह है। ऐसा विचार कर उस व्यक्ति को क्षमा ही करे, यह साधक का कर्तव्य है।

उक्त सभी अंकुशों का निष्कर्ष निकालते हुए टीकाकार बताते हैं कि यहाँ चौबीस तरीकों से सोचने के द्वारा अक्षमा को जीतने के लिए कहा जिससे पता चलता है कि अक्षमा, असहनशीलता का एकमात्र निमित्त अज्ञान, अविचार है। दूसरों को क्षमा न करना—इसका अज्ञान से अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है। ये जितनी बातें बतायीं वे ज्ञान की हैं, इन बातों को जो नहीं जानते वे दूसरों को क्षमा नहीं करते। अत: अक्षान्ति का एकमात्र कारण अज्ञान ही है। हम अज्ञानी न रह जाएँ अत: विवेकरूपी ज्ञान के अंकुशका हमें प्रयोग करना चाहिए। द्वेष का प्रतिद्वेष करके हर हालत में हमारी ही हानि होती है, क्षमा करना हर हालत में हमारे लाभ का ही है। ज्ञानरूप अंकुश का उपयोग यही है कि हम उपशांत हो जायें, अज्ञान-प्रयुक्त कामनादि से चित्त विक्षिप्त

न हो, बाह्य प्रभाव से अनिवार्य विक्षेप भी अतिशीघ्र निवृत्त हो जाये और हमारी साधना निर्विघ्न चलती रहे।।२४।।

सर्वतः परिधावन्तं मनो मत्तगजेन्द्रवत्।
ज्ञानाङ्कुशवशं कृत्वा पुनः पन्थानमानयेत्।।२५।।

इति गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य
परमहंसपरिव्राजकस्याचार्यशङ्करभगवतः कृतौ
ज्ञानाङ्कुशविवरणम्
समाप्तम्।।

श्रीगुरुभ्यो नमः। करकृतमपराधं क्षन्तुमर्हन्ति सन्तः।
नारायणाय नमः। शुभमस्तु। शुभमस्तु। शुभमस्तु।

मस्त गजराज की तरह सब तरफ भागते हुए मन को ज्ञानांकुश से वश में लाकर पुनः रास्ते पर चलाना चाहिये।

मन मद चढ़े हाथी की तरह है। जितनी इन्द्रियाँ हैं वे कामना के रहने का स्थान हैं। आँख देखने की इच्छा करती है, कान सुनने की इच्छा करता है। पर उनमें मन सबसे प्रबल है। जैसे हाथी मत्त हो जाता है वैसे ही मन भी सदा मस्त है। अज्ञान से प्रसूत जो राग-द्वेष हैं उनसे मन बिल्कुल नशे में धुत्त है, कोई सही बात सोचने को तैयार नहीं। ऐसा मदमत्त हाथी खूँटे को भी उखाड़कर जहाँ मर्जी वहाँ भाग जाता है क्योंकि उस पर किसी का कोई नियंत्रण तो रहता नहीं। इसी प्रकार यह मन भी राग-द्वेष के वशीभूत हुआ अज्ञान के नशे में चारों तरफ दौड़ता है। ऐसे मन पर बार-बार इस ज्ञान का अंकुश मारो। हाथी को वश में करने के लिए बार-बार उस पर अंकुश मारना पड़ता है, मारने से मद निकल जाता है, धीरे-धीरे हाथी शान्त हो जाता है। इसी प्रकार राग-द्वेष से परिपूर्ण मन पर ज्ञानाङ्कुश जितनी जोर से जितनी बार पड़ेगा उतना ही मन शान्त हो जाएगा। जब काफी शान्त हो जाये

तभी उसे नियंत्रित कर सही रास्ते चलाया जा सकता है। जब मस्ती में हो तब समझाना मुश्किल होता है क्योंकि तब वह पथभ्रष्ट होता है, अशान्ति की तरफ चला ही जाता है। जब बार-बार ज्ञानाङ्कुश से उस मन पर वार किया जाता है तब जो साधना का मार्ग है, परमात्मा का मार्ग है, श्रेय का मार्ग है, शान्ति का मार्ग है, उस पर आने लगता है। साधना मन से होती है। मन अगर शुद्ध नहीं हुआ तो कोई साधना हो नहीं सकती। जब तक अन्तःकरण में किञ्चित् भी राग-द्वेष लगा रहता है तब तक सावधानी से रहना पड़ता है अन्यथा कुमार्ग में जाकर कहाँ तक पतन होगा यह पता नहीं। इसीलिए आचार्यों ने बड़ी कृपाकर यह ज्ञानांकुशरूप साधन उपलब्ध कराया है जिससे हर मुमुक्षु अपना कल्याण कर सकता है।।२५।।

पठनीय साहित्य

विचार में वह शक्ति है जो समस्त लौकिक-अलौकिक प्रतिबन्धों का भेदन कर जीवात्मा को उसके नित्यमुक्त परमात्मस्वरूप में प्रतिष्ठा प्रदान करती है। अपना कल्याण चाहने वाले के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं कि वह स्वयं अपना विचार करे कि 'मैं कौन हूँ'। स्वयं के बारे में केवल आपात-ज्ञान अर्थात् अविचारित ज्ञान कभी हितकारी नहीं हो सकता क्योंकि जिसे सही-सही नहीं समझा जाता उसका वास्तविक लाभ दुर्लभ ही रहता है। मिले-जुले रूप में ही उपलब्ध होने के कारण इसी हालत में आत्मा का विचार करना पड़ेगा, अनात्मांश से पृथक् कर आत्मस्वरूप पहचानना होगा तभी आत्मा की सनातन कल्याणरूपता अनावृत होगी।

मानव की ज्ञानसामर्थ्य अतिसंकुचित है, वह अतीन्द्रिय के बारे में स्वयं बहुत कम समझ पाता है। आत्मतत्त्व इन्द्रियों से ही नही, मन-वाणी से भी अतीत होने के कारण उसके परिशुद्ध स्वरूप को जीव तब तक बुद्धिगत नहीं कर सकता जब तक उसे वह ज्ञान दिया न जाये और उस ज्ञान को देना जीव के लिए सम्भव न होने से स्वयं परमेश्वर ने वेद के रूप में हमें परमार्थ ज्ञान प्रदान किया है। नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त आत्मस्वरूप वेद से अतिरिक्त और किसी प्रमाण से नहीं बताया गया होने से इसे जानने का वैकल्पिक उपाय नहीं है। स्वस्वरूप क्या है, कैसा है—इसे यथार्थ रूप में समझने के लिए प्रत्येक साधक का कर्तव्य है कि गुरु से वेद के उन प्रसंगों का गम्भीर विचार करे जहाँ आत्मवस्तु प्रतिपाद्य है।

मावन जीवन की सार्थकता परमार्थ समझने में ही है। हर मनुष्य सत्य जानने को उत्सुक होता है लेकिन उसके पास जो साधन हैं उनसे अधूरा सत्य ही मिलता है। अधूरे सत्यों का परस्पर विरोध देखकर अनेकों का सत्य पर से विश्वास ही उठ जाता है किन्तु क्योंकि सत्य एक वास्तविकता है इसलिये न उससे सर्वथ छिपा जा सकता है, न उसके आकर्षण को दूर किया जा सकता है। कुछ सत्य है ही नहीं—इस निश्चय से न जीवन चल सकता हैं

न अपने कष्टों का सदा के लिये निवारण हो सकता है। भगवती श्रुति तत्परता से परमार्थ सत्य, पूर्ण सत्य का प्रकाशन करती है। श्रद्धा से उस सत्य को आत्मसात् किया जाये, युक्तियों से परीक्षा कर उसके बारे में सब सन्देह मिटाये जायें, तभी अधूरे सत्यों से ऊपर उठकर वास्तविकता में स्थिर रहा जा सकता है, हमेशा के विचलन से छुटकारा पाया जा सकता है। इस स्थिति को मोक्ष कहते हैं।

सम्पूर्ण सत्य के प्रतिपादक वेदभाग वेदान्त, उपनिषत् कहे जाते हैं। इनका सबसे प्राचीन व्यवस्थिंत समीक्षात्मक अध्ययन भगवान् श्री शङ्कराचार्य द्वारा रचित भाष्य है। वेदान्त के गूढ उपदेश को प्रकट करना, युक्तियों से उसे मण्डित करना, वेदान्त-विरोधी मतों की गलतियाँ उजागर करना, तत्त्व समझने के साधन बताना और ऐसा प्रारूप उपस्थित करना कि साधक तदनुसार विचार करता रहे तो तो अवश्य वेदान्त-प्रतिपाद्य 'सत्य-सत्य' का निश्चय प्राप्त करे—ये शांकर भाष्य के पुनीत सफल प्रयोजन हैं। इससे अतिरिक्त, आचार्य शंकर ने अनेक प्रकरण ग्रन्थों द्वारा वेदान्त के अर्थ का विस्तृत विश्लेषण और विस्तार प्रस्तुत किया है। जिससे अल्पमेधा वाले साधक भी पूर्णता प्राप्त कर सकें। भाष्यकार द्वारा व्याख्यात एवं अन्य तरह से विचारित उपनिषदें तो सब तरह से प्रधान हैं ही पर अन्य उपनिषदों का तथा श्री शंकराचार्य एवं अन्य आचार्यों द्वारा रचे प्रकरणों का महत्त्व भी कम नहीं है। समझी हुई बात को हृदय में उतारने के लिये, जीवन में हर क्षण पूर्णता का स्फुरण कायम रखने के लिये इन उपनिषदों का अध्ययन व परायण अत्यन्त हितकर है।

जीवन की सफलता निर्दुःख आनन्द के आविष्कार में है। जीव सीमितता से पीडित है, सारी सीमाओं के हटे बिना इसकी पीडा का उन्मूलन असम्भव है। असीम आनन्द एकमात्र शिव है। उससे अलग रहकर कोई भी सीमानिर्मुक्त नहीं हो सकता। शिव से अपने आत्यन्तिक अभेद का साक्षात्कार ही जीव को असीम बनाता है। इस का उपाय वेदान्त की साधना है जो चित्तशोधक साधनों से प्रारम्भ होकर ब्रह्मसंस्थता में पूर्ण होती है। वेद

अधिकारी को ही ज्ञान करा पाता है, यदि वेद से वेदार्थ समझ न आ रहा हो तो स्वयं को योग्य अधिकारी बनाने का प्रयास करना चाहिये, योग्यता आने पर अवश्य वेद से ज्ञान उपलब्ध हो जाता है।

वेद के ज्ञानकाण्ड के प्रधान स्थल ईशादि दस उपनिषदें हैं जिनपर आचार्य शंकर का प्रसन्न-गम्भीर भाष्य उपलब्ध है। उनमें से एक है **प्रश्नोपनिषत्** जो अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा के ब्राह्मण भाग की उपनिषत् है। छह ब्रह्मनिष्ठ ऋषियों ने परब्रह्म के अन्वेषणार्थ पिप्पलाद महर्षि से विविध प्रश्न पूछे जिनका उत्तर पाकर अविद्यासागर से तर गये। इसमें साधना के अनेक रहस्य स्पष्ट कर दिये गये हैं। प्राण तथा प्रणव का महत्त्व इस उपनिषत् में सुव्यक्त है। जाग्रदादि अवस्थाओं के सहारे विवेक का तरीका यहाँ चतुर्थ प्रश्न में समझा दिया है। सोलह कलाओं वाले पुरुष का रहस्य इसी उपनिषत् में प्रकट है। मुण्डक और प्रश्न उपनिषदों का भलीभाँति श्रवण-मनन अवश्य आत्मबोध का हेतु बनता है।

श्वेताश्वतर उपनिषत् मुमुक्षुओं के अध्ययन के लिये आवश्यक ग्रंथ है। श्वेताश्वतर ऋषि का नाम है। तथापि योगरूढि के द्वारा श्वेत अर्थात् दोषरहित, अश्व अर्थात् इन्द्रिय जिस की हो, वह श्वेताश्व हुए। अतिशय से श्वेताश्व श्वेताश्वतर हुआ। तात्पर्य हुआ कि सदा अन्तर्मुख रूप से एवं विषय-प्रवृत्ति से रहित ही उनका कार्यकरण संघात था इसी लिये वे श्वेताश्वतर कहे जाते थे। उन्ही के नामसे प्रसिद्ध हुई शाखा की आज केवल उपनिषत् उपलब्ध है, संहिता व ब्राह्मण नहीं।

अशेष क्लेश-निवृत्ति पूर्वक निरतिशय आनन्द की प्राप्ति का हेतु ब्रह्मविद्या है, उसी को उपनिषद् कहते हैं। यह अतिमहत्त्वपूर्ण उपनिषत् है। प्रस्थानत्रयी भाष्यकार श्रीशंकर का इस पर व्याख्यान न मिलने पर भी सूत्रभाष्य में इस पर पर्याप्त चिन्तन है तथा शंकरानंद, नारायण आदि अनेक प्रसिद्ध आचार्यों की इस पर व्याख्यायें हैं। ईश्वर तत्त्व को समझने में इसका बहुत उपयोग है। कारण-मीमांसा से प्रारंभ होकर देव में परा भक्ति की आवश्यकता बताते हुए यह समाप्त हुई है। श्वेताश्वतर उपनिषत् का

अध्ययन विवेकपूर्वक तत्त्वदर्शन का हेतु बनता है।

ऋग्वेद की **कौषीतकी** शाखा के ब्रह्मण भाग में आनेवाली उपनिषद् पर यद्यपि आचार्य शंकरभगवत्पाद का भाष्य उपलब्ध नहीं है, तथापि शंकरानन्द आदि ने उस पर विस्तृत व्याख्यान किया है, तथा ब्रह्मसूत्र में इस पर अधिकरणरचना भी है। इससे इसका महत्त्व सुस्पष्ट है। इसकी आत्मपुराण में तो अत्यधिक विस्तार से व्याख्या उपलब्ध है। इसमें इन्द्र का प्रधान उपदेश है कि प्राण से प्रज्ञात्मा के अभेद रूप से मुझ इन्द्र को जानो। प्राणरूप से पैर के द्वारा व प्रज्ञात्मा रूप से मूर्धा के द्वारा परमशिव का प्रवेश है। अतः ज्ञान-क्रियात्मक ही हिरण्यगर्भ है। सूक्ष्म शरीर ही बाध होने पर तैजस् कहा जाता है। विराट् की जागृत् जीव से जैसे व्यापक होने से एकता है, वैसे ही व्यापक उपाधि वाले हिरण्यगर्भ से स्वप्न जीव की एकता है, जब इस प्रकार कार्य उपाधि वाले की एकता सिद्ध है तो, जो वैसे भी अव्यक्त होने से भेदग्रस्त नहीं है, उस की एकता की सिद्धि सुगम होने से उस उपाधि वाले प्राज्ञ व ईश्वर की एकता तो अतिस्फुट है।

अजातशत्रु व गार्ग्य का संवाद इस उपनिषद् व बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रायः एक सा है। इसमें व्यतिरेक द्वारा उपास्य व ज्ञेय की एकता का सुन्दर प्रतिपादन है। इस प्रकार कौषीतकी ब्राह्मण उपनिषद् के अभिप्राय के ज्ञान से वेदान्तवेद्य का ज्ञान सरलता से हो जाता है।

यद्यपि **मैत्रायणी** उन धन्य उपनिषदों में से नहीं है जिनका विचार भगवान् बादरायण ने ब्रह्मसूत्रों में किया है, और न उनमें से है जिनको श्रुति रूप से भगवान् शंकरभगवत्पाद ने उद्धृत किया है, तथापि मैत्रायणी संहिता के, जिसका प्रोफेसर वेवर ने १८४७ ईस्वी में प्रकाशन किया था, सन्दर्भ में अध्ययन करने पर भाषा व व्याकरण तथा मुहावरे की समानताओं से इसे उसका ही आरण्यक स्वीकारना पड़ता है। वैसे छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कठ, प्रश्न तथा श्वेताश्वतर से अनेक स्थलों में इसका साम्य परिदृष्ट है। मैत्रायणी संहिता में अनेक देवताओं की गायत्री आई है, जिनमें से कुछ तैत्तिरीय आरण्यक के दशम खण्ड अर्थात् महानारायणोपनिषद् में भी हैं। उनमें ब्रह्मा,

विष्णु और रुद्र की गायत्री भी हैं। इस उपनिषद् में (४.५) ब्रह्मा को रजोगुण, विष्णु को सत्त्वगुण तथा रुद्र को तमोगुण का अधिष्ठाता स्पष्टत: कहा है। इस प्रकार गुणमूर्त्तियों का वर्णन वैदिक साहित्य में अन्यत्र स्पष्ट नहीं है। इसी प्रकार ३.५ में रजोगुण व तमोगुण के लिंगों का वर्णन जैसा इसमें है वैसा अन्यत्र नहीं। न केवल सांख्यों के गुणों से इसमें भेद है, वरन् गीता से भी पर्याप्त भेद है।

इस उपनिषद् का नाम मैत्र्युपनिषद् भी है, तथा मैत्रेय्युपनिषद् नाम भी स्पष्ट है। मैत्रायणी शाखा की होने से मैत्रायणी उपनिषद् इसका प्रसिद्धतर नाम है। सांख्य दर्शन की तरह योगदर्शन भी इस उपनिषद् से उपकृत है। चित्तनिरोध पर इसमें काफी विचार किया है व इसके साधनों का विस्तृत विचार इसमें किया है। अनेक योग उपनिषदों में इसको उद्धृत किया गया है। उपासनाओं का इसमें काफी विस्तार से विचार है। इस प्रकार आस्तिक दर्शनों पर इस उपनिषद् की पूरी छाप दिखाई पड़ती है। अन्तिम प्रपाठक में प्रणवोपासना का सुन्दर वर्णन किया है। गायत्री की उपासना का प्रतिपादन (५.७) किया है।

शाकायन्य ऋषि ने इक्ष्वाकुवंश के बृहद्रथ राजा को इस उपनिषद् का उपदेश दिया है। बृहद्रथ वैराग्यवान् था यह पहले ही प्रपाठक में बता दिया है। शाकायन्य ने इस ब्रह्मविद्या को मैत्रेय से प्राप्त किया था। मैत्रेय ने मन, वाणी व दृष्टि इन तीनों से जो ऊर्ध्वरेता थे ऐसे अंगुष्ठ जैसे शरीर वाले तपस्वी बालखिल्य ऋषियों से प्राप्त किया। बालखिल्यों ने प्रजापति से इसे पाया। इस प्रकार यह ज्ञान अति महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय वाला है। शरीर को चेतन बनाने वाला क्षेत्रज्ञ है। 'यह मेरा हो' रूपी संकल्प; 'ऐसा ही करना है' रूपी निश्चय, 'इसे करके ही रहूँगा' रूपी अभिमान ये तीन क्षेत्रज्ञ के चिह्न हैं। वह व्यापक चेतन किस प्रकार क्षेत्रज्ञ रूप से प्रवेश करता है, इसका विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रवेश करके इष्ट पदार्थों की उपलब्धि के लिये ज्ञानेन्द्रियों से बाहिर जाता है। नाना प्रकार की वासनाएँ ही चाबुक है। इस प्रकार भगवान् ही सारे शरीरों में अंश रूप से रहकर इसको चेतन वाला

बनाते हैं। अवस्थातीत होने पर भी कर्मफलों को भोगते हुये अवस्था वाला प्रतीत होता है। साक्षी की तरह उदासीन होकर भी अज्ञान व उसके कार्य से अपने को ढाँक कर भोक्ता की तरह 'मैं' व 'मेरा' अभिमान वाला अपने को प्रतीत करता है एवं कर्मफलभोग के लिये व्यग्रता का अभिनय करता है।

इस प्रकार जैसे न सूर्य साक्षात् रुई को जलाता है, न उन्नतोदर काँच जलाता है वैसे ही न चेतन भोक्ता है, न भूतों से उत्पन्न लिंगशरीर। पर जो सूर्य का आभास उन्नतोदर काँच में से प्रतीत होता है वह अवास्तविक होकर भी भोक्ता रूप से कार्य करता है। अज्ञान मिटने पर अपनी वास्तविकता को जान लेता है तब इसका भोग भी नहीं रहता भोग्य भी नहीं रहता। फिर भोक्ता कहाँ से रहेगा! स्वधर्म व स्वाश्रम में स्थित होकर ही यह संभव है। धर्म्रपरिपालक ही तपस्वी है। वही ब्रह्म में संलग्नचित्त होने से अवश्य मुक्त होता है। (४.५) कोत्सायनी महर्षि ने चित्त को प्रशान्त करने के लिये जिन मंत्रों का दर्शन किया वे मंत्र ब्रह्म की सर्वरूपता का वर्णन करते हैं (४.४)।

अन्त में समष्टि रूप से आदित्य व व्यष्टि रूप से प्राण इन दोनों आत्मा के रूपों का प्रतिपादन किया है। हृदय में इस आत्मा की उपासना का प्रतिपादन किया है। व्यष्टि समष्टि के अभेदचिन्तन के लिये उद्गीथ को ही आश्रय बनाया गया है। अन्त में इसमें निष्ठाप्राप्ति के लिये सभी प्राणियों को अभय देना रूपी संन्यास ग्रहण करके अरण्य में जाकर सभी करण समुदाय के विषयों को अपने स्वरूप से बहिर्भूत अनुभव करते हुये इसी शरीर में उस परब्रह्म में स्थित होने का आदेश है। इस प्रकार सारी ही वेदान्तों की प्रक्रिया का इस उपनिषद् में सुन्दर वर्णन है।

यद्यपि मैत्रायणी शाखा कृष्णयजुर्वेद के अन्तर्गत है, तथापि मुक्तिकोपनिषद् की मान्य आज्ञा के अनुसार इसके आदि व अन्त में सामवेद का शान्तिपाठ करना उचित है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह उपनिषद् सामवेद के उद्गाताओं में विशेष सम्प्रदाय से प्रचलित रही है। यह सामवेद की एक हजार शाखाओं में किससे सम्बद्ध रही हो यह अन्वेषण का विषय है।

हिन्दू धर्म की आधारशिला वेद हैं, एवं वेद का अधिष्ठान परमशिव तत्त्व है। इस तत्त्व का अपरोक्ष ''मैं'' के अनुभव में होता है, परन्तु उसका

ब्रह्म रूप से परोक्ष रहना, उस के दुःख का मूल कारण है। उस परोक्षता को हटाना ही वेदान्त का उद्देश्य है, एवं महोपनिषद् इसी को सरल प्रकार से उपस्थापित करने का हिरण्यगर्भ का यत्न है। परवर्त्ती साहित्य में इस ग्रन्थरत्न का महत्त्व है, तथा अनेक वर्त्तमान ज्ञानियों ने इसी से दृढ ब्रह्मविज्ञान प्राप्त कर के कृतार्थता का अनुभव किया है, अत: हिन्दी रूपान्तर के साथ इसका प्रकाशन साधकों को पथ्य प्रतीत होगा।

सभी वैदिक उपनिषदों की भाँति इसमें सर्वप्रथम ब्रह्म से सृष्टि प्रक्रिया का प्रतिपादन किया है। फिर उसका ध्यान चारों वेदों को तथा अग्नि, वायु, सूर्य तथा सोम को उनके चतुर्मुख रूप से बता कर, तथा उसी को सर्वव्यापक से अभिन्न प्रतिपादन कर, उसी को जीव चैतन्य की दीपशिखा रूप से निर्दिष्ट किया है।

दूसरे अध्याय से वेदान्त का ज्ञानकाण्ड प्रारंभ करते हुये, शुक के साधनकाल का वर्णन करके यह स्पष्ट किया है कि बिना गुरु से विद्या प्राप्त किये कभी स्थिर निश्चय नहीं होता। शुक व जनक पौराणिक साहित्य में प्रसिद्ध हैं।

तृतीय अध्याय से ऋभु व निदाघ का संवाद उपस्थित किया है। शिव रहस्य में, जो बृहत्ता में महाभारत के तुल्य है, ऋभु गीता भी आई है, एवं ऋभुनिदाघ का विस्तृत जीवन व संवाद भी है। निदाघ की तीर्थयात्रा उसे शुद्ध बना कर वैराग्यवान् बना देती है, जो ज्ञानप्राप्ति का प्रधान साधन है। निदाघ भी अनुभव को चतुर्थ अध्याय के ऋभु उपदेश से स्पष्ट जान पाता है।

पाँचवें अध्याय में ऋभुने ज्ञान-अज्ञान की सात-सात भूमिकाओं का वर्णन किया है और इन भूमिकाओं से परे ज्ञेय को मुक्ति बताया है। इस अध्याय का चौहत्तरवाँ श्लोक पंचदशी (७.१५०) में भी है। इसमें मन, बुद्धि क्रिया, अहंकार, चित्त, प्रकृति, माया, मल, कर्म, बन्ध, पुर्यष्टक, अविद्या और इच्छा को समानार्थक और जीव को पराधीन बनाने वाला कहा है। व्यवहार में अनागत भोगों की अनिच्छा व प्राप्त का सम्भोग पण्डित का लक्षण है। मल नामक दोष सत्क्रिया से हटता है अत: तदर्थ उद्योग का

विधान उपनिषत् में किया है। षष्ठाध्याय के प्रारम्भ में कहा है कि अपने स्वाभाविक अकर्त्रात्मभाव में स्थित रहकर, संकल्परहित होकर स्वभावस्थिति में विहार करना चाहिये। इस समता के अनेक साधनों का विस्तृत विवेचन योगवासिष्ठ छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ है। ग्रन्थोपसंहार में इसके अध्ययन का फल बताया है।

अनादि काल से अनन्त जन्मों में भ्रमण कर अनन्त भोग पाकर भी जीव अकृतार्थ ही है। कृतार्थता की प्राप्ति का प्रथम साधन है विचार करने की योग्यता। इसी से विवेक होकर संसार की असत्-जड-दुःखरूपता का ज्ञान होता है। वेद का प्रधान उद्देश्य है यह बताना कि जिसकी तमन्ना सभी समय रहती है वह सच्चिदानन्द क्या है। ज्ञान के लिये वेद व वेदज्ञ गुरु में श्रद्धा अतीव आवश्यक है। वेदार्थ समझकर उसके बारे में होने वाली शंकाओं का निर्मूलन जरूरी है, तभी अन्य सारे दृष्ट-अदृष्ट फल वाले कर्मों का त्याग कर निरन्तर स्वस्वरूप में स्थिति रह पाती है। दृढ ब्रह्मबोध होने पर पूर्ण सम्पत्ति में केवल प्रारब्धक्षय का विलम्ब रह जाता है। यही कृतार्थता का साक्षाद् अनुभव है।

तेजोबिन्दु उपनिषत् बहुत महत्त्व की है। छह अध्यायों में बँटे इस ग्रन्थ में साधना का उपयोगी सारा विषय इकट्ठा कर दिया गया है। प्रारम्भ में परमात्मस्वरूप, साधन के विघ्न और साधनों से मुक्त को प्राप्त सिद्धि बताकर दूसरे से चौथे अध्यायों में **कुमार–शिव** संवाद द्वारा अनेक रहस्य प्रकट किये हैं। सारा संसार अखण्ड एकरस चिन्मात्र ब्रह्मस्वरूप है। प्रत्यक् ही ब्रह्म है, तदतिरिक्त कहीं कुछ नहीं, इसे एक बार जानते ही मोक्ष निश्चित है। विशुद्ध आत्मा का अनुभव कैसा होता है, यह तीसरे अध्याय में सुस्पष्ट कर जो असत्य है, अनात्मा है उसे दिखाते हुए 'मैं ब्रह्म हूँ' का प्रताप व्यक्त किया गया है। जीवन्मुक्त व विदेह मुक्त की स्थिति बताते हुए कुमार–शिव संवाद पूर्ण होकर पंचमाध्याय **निदाघ-ऋभु** संवाद से प्रारंभ होता है जहाँ आत्मा-अनात्मा का विवेक करा दिया गया है। जो सापेक्ष है, वह मिथ्या है और मैं मिथ्या से रहित हूँ–इसका सुन्दर विस्तार कर छठे अध्याय में

विधि-निषेध दानों तरह सच्चिदानंद को बताया है तथा अन्त में जगन्मिथ्यात्व से अजात की ओर जाने की दिशा दे दी है।

परमार्थ का स्वरूप और उसे पाने के साधनों का निर्विघ्न प्रयोग करने का ढंग बताकर अखण्ड एकरस पूर्ण ब्रह्मतत्त्व का वर्णन पिछले अध्यायों में किया। पाँचवा—छठा अध्याय अपने परम प्रिय शिष्य निदाघ को महर्षि ऋभु का विस्तृत और गंभीर रहस्योपदेश है। निदाघ ने आत्मा-अनात्मा को पृथक् कर समझाने के लिये कहा तब ऋभु ने सापेक्ष के मिथ्यात्व और अपूर्णत्व को अनात्मा की पहचान बताकर मिथ्या से अतीत अखण्ड का बोध कराया। अनात्मा वास्तव में है ही नहीं, आत्मा ही वास्तव में है किन्तु वह भी निर्देशके अयोग्य है। उपायों से भले ही उसे समझ लें, सीधे-सीधे उसे बताया नहीं जा सकता। ऋभु कहते हैं कि सत्य में कोई दृष्टांत नहीं मिलता, अज किसी का दृष्टांत नहीं बनता। एकमेव होने से यह बात सर्वथा संगत है। यहाँ के वर्णन में निषेधमुखता प्रधान है फिर भी बीच-बीच में विधिमुख से बताकर शून्य की ओर जाने से सावधान कर दिया गया है। अन्य सब साक्षी पर निर्भर है किन्तु साक्षी स्वयं साक्षिहीन है, स्वप्रकाश है, अत एव पूर्ण ब्रह्म है। उसमें है-पना, अस्तित्व भी कोई धर्म नहीं है, वह स्वयं सन्मात्ररूप है। उसकी तरफ से विमुख होकर 'मैं शरीर हूँ' यह संकल्प बना लेना ही संसार है। प्रत्यग्वस्तु की पूर्णता समझने का महत्त्व बताते हुए साधना की आवश्यकता और अधिकारी के कथन से अध्याय पूरा हुआ है।

सांसारिक तापों से सन्तप्त जीव कष्टरहित आनन्द का हमेशा इच्छुक है। ऐसे आनंद का उपाय एकमात्र वेद के अतिरिक्त और कोई प्रमाण बताता ही नहीं है। तिलों का सार जैसे तेल है वैसे वेदों का सार वेदान्त अर्थात् उपनिषदें है और उन्हीं का सहारा लेना न्यूनतम आयास से मोक्ष का उपाय है इस प्रतिज्ञा से भगवान् श्री राम ने साधकोत्तम हनुमान् को जहाँ उपदेश देना प्रारम्भ किया है वह **मुक्तिकोपनिषत्** है जिससे सभी मानव साधना के लिए मार्गदर्शन प्राप्त कर सकते हैं। अन्यान्य मोक्ष साधनान्तरों से मिल सकने पर भी कैवल्य मोक्ष अर्थात् पारमार्थिक मुक्ति आत्मतत्त्व के असंशय साक्षात्कार

से ही मिलता है। काशी में मरने से भी इसीलिए मोक्ष होता है कि वहाँ तारक मन्त्र का उपदेश प्राप्त होता है। ब्रह्मलोक में भी ब्रह्माजी से वेदान्त श्रवणादि करके ही मोक्ष मिलता है। चारों वेदों में अनेक उपनिषदें हैं, सभी में सफलता के लिये पर्याप्त उपदेश होने पर भी श्री राम ने माण्डूक्योपनिषत् को मोक्षलाभ के लिए सर्वाधिक सशक्त माना है। माण्डूक्य का तात्पर्य निर्विवाद है इसमें पुष्ट प्रमाण है कि भगवान् बादरायण ने उसके विषय में कोई अधिकरण नहीं रखा है क्योंकि संशयास्पद कोई स्थल नहीं है। केवल माण्डूक्य से पूर्णता न पा सकने वाला दस उपनिषदों का, बत्तीस उपनिषदों का या एक सौ आठ उपनिषदों का सहारा ले। इनसे अतिरिक्त कोई उपनिषत् मोक्षमार्गी के लिए हितकर नहीं है। शिष्य व गुरु की योग्यता का वर्णन कर श्री राम ने प्रथमाध्याय पूरा किया। द्वितीयाध्याय में विस्तार से समझाया गया है कि अशुभ वासना को शुभ वासना से जीत कर फिर सारी वासनाओं का परित्याग करने से शान्त हुये मन से ही ज्ञान की दृढता संभव है। इस कार्य में प्राणनिरोध का सहारा भी लेना चाहिए। अज्ञान रहने तक शास्त्रप्रमाणक गुरुनिर्णीत आचरण ही कर्त्तव्य है जिससे मन पर विजय होने पर ही शास्त्रानुसारी पौरुष द्वारा मोक्ष मिल सकता है। साधना में प्रेरणा और उपनिषदों के श्रवणादिकी ही साधनता के बारे में निश्चय के लिए मुक्तिकोपनिषत् का अध्ययन आवश्यक है।

स्वल्पकाय **कैवल्योपनिषत्** संन्यासी नित्य आर्वतन करते हैं। त्याग की ही अमृत-उपायता है इस प्रतिज्ञा से यहाँ उपदेश प्रारम्भ हुआ है। वेदान्त बोध से जन्य अनुभव से निरावृत अर्थविषयक सुनिश्चित यति का ही 'परम अन्तकाल' होता है, जन्ममरण के चक्र से छुटकारा होता है। उमासहाय परमेश्वर की उपासना के प्रभाव से समस्त-साक्षी में प्रतिष्ठा मिलती है। भेददर्शन रहते सब में स्वयं को और स्वयं में सबको जानने वाला ही भेददर्शन की निवृत्ति पर मुक्त होता है। तीनों अवस्थाओं वाले रूप से पृथक् कर समझा अपना प्रत्यगात्मा ही अज्ञात हुआ सारे प्रपंचका कारण है। 'वह तू ही है, तू ही वह है' यों व्यतिहार से महावाक्य के अर्थ का इस उपनिषत्

में निर्धारणकर महावाक्यों का अन्यथा व्याख्यान असंभव बना दिया है। प्रथमाध्यायको फलावस्था के कथन से समाप्त कर द्वितीय अध्याय में शतरुद्रीय के अध्ययन आवर्तन का फंल बताया है जिससे सभी साधक उसके पाठादि में प्रवृत्त होकर श्रेय पायें।

सनातन वेद से प्रतिपाद्य सनातन ब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाला ही सनातन हिन्दू धर्म है। वेद के ज्ञानकाण्ड उपनिषदों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। उपक्रमादि विचारों से ब्रह्म का अपरोक्षानुभव कराना जिसका उद्देश्य है एवं अपरोक्षानुभव को ज्ञाननिष्ठा में परिणत कराने वाला। **अन्नपूर्णोपनिषद्** इस दूसरी कोटि के भाग में उत्कृष्ट है। इसमें स्पष्टत: वेदान्त के द्वारा प्रतिपादन किया जाना स्फुट है। इसके अनेक मंत्र वेदान्त के प्रकरण ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं तथा योगवासिष्ठ में भी मिलते हैं। चित्तनिग्रह के अनेक साधनों का निरूपण भी इसमें है एवं देवी की भक्ति का भी वर्णन है। ज्ञान की निष्ठा प्राप्ति के अनेक प्रकार तथा जीवन्मुक्ति के अवस्थाभेदों को भी सुन्दर ढंग से वर्णित करना इस उपनिषद् की अपनी विशेषता है। इसका पाठ भी पुण्यप्रद है तथा ज्ञानप्राप्ति के विघ्नों का नाश करने में समर्थ है। अर्थानुसंधानपूर्वक होने पर तो ज्ञान भी कराने में समर्थ होकर निर्विशेष बन्धननिवृत्ति भी कराने मे मददगार होता है।

वैदिक साहित्य में ऋभु का चरित्र ऐतरेय ब्राह्मण में सर्वप्रथम मिलता है। इनके प्रधान शिष्य निदाघ थे। अन्नपूर्णोपनिषद् की तरह **वाराहोपनिषद्** में भी इन्ही गुरु शिष्य का संवाद है। पहले महर्षि ऋभु भगवान् वराह से उपदेश ग्रहण करते हैं। फिर निदाघ को उपदेश देते हैं। यह वेदान्त का अद्‌भुत अनुभूतिप्रधान ग्रन्थ है। इसके अन्दर अनेक श्लोक विवेकचूड़ामणि आदि ग्रन्थों से अद्‌भुत समानता वाले हैं। अपरोक्षानुभूति का प्रथम श्लोक भी इसमें प्रारम्भ में ही है। भूमिकाओं का भी विस्तृत विचार इसमें योगवासिष्ठ का स्मरण कराता है। विहंगम व पिपीलिका मार्गों का भी वर्णन किया है। जिस ब्रह्मवेत्ता की बुद्धि अनुभव पर्यवसायिनी होती है उसके दृष्टिपथ में आये कीट पतंग तक मुक्त हो जाते हैं। परन्तु इसके लिए भूतधारणा करने की

आवश्यकता मानी गयी है। इसीलिए प्रारंभ में तत्त्वों के विषय में अनेक मतों का प्रतिपादन है। लययोग, मंत्रयोग व अष्टांगयोगों में से किसी का अवलम्बन भी आवश्यक माना गया है। चक्रासन का महत्त्व बताया है। इस प्रकार सभी साधनों का भी इसमें उत्तम वर्णन है। सभी साधनों का सार है–

शिवो गुरुः शिवो वेदः शिवो देवः शिवः प्रभुः।
शिवोस्म्यहं शिवः सर्वं शिवादन्यन्न किंचन ।।
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्।।

मैत्रेयी, निरालम्ब एवं अध्यात्म उपनिषदों की अपनी विशेषता है। प्रथम में भगवान् शंकर शरीर को देवालय बताते हुये अन्तर्याग का निरूपण करते हैं। द्वितीय में जीव, ईश्वर, देव, राक्षस से लेकर बन्ध, मोक्ष, परमपद, संन्यास आदि का लक्षणत्वेन निरूपण है। तृतीय में अन्तर्यामी का निरूपण तथा अद्वैत साधना की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की व्याख्या की गई है। इन उपनिषदों व शांकर सम्प्रदाय के प्रकरणग्रन्थों में न केवल अर्थ-साम्य है वरन् शब्दसाम्य भी है।

भूतपूर्व राष्ट्रपति सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने १८ उपनिषदों की अंग्रेजी व्याख्या में **सुबालोपनिषत** को भी समूल प्रकाशित किया है जिससे इसकी महत्ता स्पष्ट है। सर्वप्रथम सृष्टिप्रक्रिया बताकर लयचिन्तन बताया है। फिर सत्य, दान, तप, कामत्याग, वैराग्य, ब्रह्मचर्य का साधन निरूपित किया है। अनेक उपसनाओं को बताकर रैक्व व आंगिरस का संवाद एवं उसके द्वारा अन्तर्यामिता व उत्क्रमण-प्रक्रिया का विस्तार किया गया है।

तरूणेन्दुशिखामणि भगवान् शंकर का अनुग्रह ही अद्वैतनिष्ठा का कारण बनता है यह सर्वमान्य तथ्य है। शिव की अनेक प्रसिद्ध मूर्तियाँ हैं। सनकादि मुनियों को झट से परमार्थ साक्षात्कार कराने के लिए जो उपदेष्टा संन्यासी की मूर्ति उन्होंने धारण की थी वही दक्षिणामूर्ति है। उसके विविध ध्यान तथा मंत्र **दक्षिणामूर्ति उपनिषत्** में बताये गये हैं जिन्हें विधिवत् समझकर यथोचित अभ्यास से शिवानुग्रह प्राप्त होता है इसमें सन्देह नहीं।

तत्त्व समझने के लिये व शिक्षा को जीवन में उतारने के लिये उपनिषदों की तरह प्रकरण ग्रन्थों का भी अद्‌भुत महत्व है। स्वयं गौडपादाचार्य ने प्रकरणों के प्रणयन से वेदान्त-सम्प्रदाय में इन्हें विशेष स्थान दिया। आचार्य श्री शंकर, उनके साक्षात् शिष्य एवं बाद के आचार्यों ने भी विपुल प्रकरण साहित्य देकर साधकों पर असीम कृपा की है। इनके सहारे परमार्थ तत्त्व का साक्षात्कार कर सकें तभी मानव जीवन सार्थक है।

परा और अपरा प्रकृतियों के अतीत जो तत्त्व है वही वेदों की हमें एक आध्यात्मिक देन है। यह तत्त्व विज्ञान और दर्शन दोनों से परे है। दोनों प्रकृतियाँ इसमें समन्वित हैं। यही वह आधार है जो हमे दोनों की ही परीक्षा करने की सामर्थ्य देता है। सृष्टि केन्द्र से स्पन्दित होकर पुनः इसी में लय होती है। इसी को सदाशिव तत्त्व कहा जाता है। प्रकृति के पर्दे को खोलने पर ही हम इसको जान पाते हैं, तथापि पर्दे में से भी विज्ञों को केवल उसी का प्रकाश प्रतीत होता है। सहृदय तो अवगुण्ठन को सौन्दर्य की आकर्षण-वृद्धि का प्रसाधन स्वीकार करते हैं।

आज विज्ञान और दर्शन का द्वन्द्व केवल भौतिक न रह कर धार्मिक जीवन में उतर आया है। धर्म दर्शन का साथी रहा है। विशेषतः भारत में तो प्रत्येक धर्म दर्शन पर ही स्थापित होता है। विज्ञान ने दर्शन को चुनौती ही नहीं दी, पराजित भी कर दिया है। मौलिक दार्शनिक विचारों का अभाव ही इस युग में विज्ञान के उत्कर्ष का प्रतीक है। अनिच्छापूर्वक भी हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि धर्म आज हमारे जीवन को स्पन्दित नहीं करता। वह या तो अपठित जनसामान्य में भय और लोभ से जीवित है, या एक अजीब खिलौने की तरह जीवन गृह का शृंगार। धर्म मरणोन्मुखी है। प्रश्न है क्या दर्शन उसकी मदद कर सकेगा?

आज के युग की आवश्यकता धर्म के रूप को समझने की है। क्या धर्म दार्शनिकों की ईश्वर सम्बन्धी मान्यताओं पर अवलम्बित है अथवा जन्मांतर की अज्ञेय स्थिति के भय का ही उसे सहारा है? अथवा उसका कोई मौलिक आधार है? यदि पूर्व दो विकल्प सत्य हों, और संसार के सभी

तथाकथित धर्म इन्हीं पर आधारित हैं, तो धर्म को बचाना न केवल व्यर्थ है पर असम्भव भी। आज आवश्यकता है पुन: विशुद्ध धर्म को समझ कर विज्ञान और दर्शन दोनों को एक नवीन दिशा देने की। यदि भारत ने इसमें सफलता पाई तो वह भी विश्व में गुलाम न रह कर स्वतन्त्र बन पायेगा। अन्यथा आज तो हम गेहूँ और दूध से लेकर यन्त्र ओर शस्त्र, एवं दर्शन और विचार से लेकर भाषा और पोशाक तक में गुलाम बने हुए हैं। शासकों के चर्म का वर्ण परिवर्तन तो स्वतन्त्रता नहीं कहा जा सकता ! और न केवल ग्रामीण नृत्यों का नाम संस्कृति ही है।

वेद हमें एक नवीन मार्ग बतलाता है। भारत में आज से प्राय: १५०० वर्ष पूर्व यही स्थिति आई थी। बौद्ध दर्शन एवं धर्म ने हमें एक करारी हार दी थी। और एक सहस्र वर्ष पर्यन्त हमने अपनी मान्यताओं की परीक्षा की। संसार के इतिहास में प्रथम बार धर्म की आधारशिला स्वयं धर्म बना। धर्म को दर्शन, मानस जगत्, विज्ञान, अन्धविश्वास एवं पारलौकिक भीति आदि सभी से विश्लिष्ट कर के अपने रूप से समझा गया। नि:सन्देह वेदकी अपौरुषेयता का सिद्धान्त इसी आधार पर सिद्ध है। वेद में धर्म को इसी दिक्कालातीत रूप से प्रतिपादित किया गया है। यहाँ हमें धर्म शब्द से आध्यात्मिक सिद्धान्त समझना चाहिये। यद्यपि भारत में सभी ने उस समय विचार-सरणि निर्माण के द्वारा इस विश्लेषण में भाग लिया था, तथापि भगवान् श्री शंकरपरावतार आचार्य भगवत्पाद को ही इसके रहस्योद्घाटन का श्रेय है। धर्म के विशुद्ध रूप को यद्यपि भाष्यकार शंकर ने प्रकट किया तथापि भाषा में सत्य के प्राकट्य में दिक्कालातीतता असंभव है। अत: हमारे आदर्श रूप से उन्होने परमहंस सम्प्रदाय के आद्याचार्य भगवान् दक्षिणामूर्ति को रखा। मौन ही उनका व्याख्यान है। इस तत्त्व को प्रकट करने के लिए ही **दक्षिणामूर्ति स्तोत्र** की रचना की गई है। वैदिक धर्म अनादि होने पर भी उसके सिद्धान्त का प्राकट्य दक्षिणामूर्ति के मौन व्याख्यान से सृष्टि के आदि काल में सनत्कुमारों को हुआ एवं आचार्य के प्रस्थानत्रय व्याख्यानों से ही वाणी में प्रकट हुआ। प्रस्थानत्रयी के अध्ययन में हमें सर्वदा इसका दर्शन होता है

कि कहीं आचार्य धर्म के विशुद्ध रूप का वर्णन कर रहे हैं और कहीं व्यावहारिक रूप का। प्रथम ही आधार है, द्वितीय तो कार्यार्थ है। इसीलिए कहीं तो वे परमेश्वर को अविद्या के काल में ही मानते हैं और कहीं उसे ही ब्रह्मरूप मानते हैं। निर्गुण और सगुण, ब्रह्म के ही दो रूप हैं।

श्री दक्षिणामूर्ति स्तोत्र भगवान् शंकरभगवत्पादाचार्य द्वारा निर्मित है एवं उनके साक्षात् शिष्य भगवान् सुरेश्वराचार्य द्वारा **मानसोल्लास** नामक वार्तिक से विभूषित है। अतएव इसकी परिशुद्धसिद्धान्तरूपता में मतभेद असम्भव है। कई लोग इसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन का ग्रन्थ मानेंगे। परन्तु इस ग्रन्थ का निर्माण वेदान्त सूत्रों के अधिकरण क्रम से है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन आगम और शिवसूत्रों पर आधारित है। सैद्धान्तिक एकता तो स्वत: सिद्ध है।

किंच वेदान्त दर्शन के साधन क्रम का आधार वैदिक कर्म आज नष्ट-प्राय है। प्राचीन परिपाटी से वर्णाश्रम धर्म भी उच्छिन्न-सा है। अत: आवश्यक है कि हम मानवमात्र सम्बन्धी साधनक्रम को प्रधानता दें। आगमों में ही हमें यह मार्गदर्शन मिलता है। शैव धर्म अति प्राचीन काल से सार्वभौम धर्म रहा है। जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, लिंग आदि सभी भेदों में भिन्न होता हुआ भी अभिन्न बना रहता है। व्रात्य और पंचमों को भी इस में स्थान है। 'चाण्डालानपि दीक्षयेत्' शैवागम का ही उद्घोष है। पर बौद्ध आदि की तरह यहाँ वेद और वर्णाश्रम का विरोध नहीं वरन् सभी को यथायोग्य स्थान दिया गया है और एक समन्वय उपस्थित है। शंकरभगवत्पाद ने ब्रह्मसूत्रों में ज्ञान में सर्वाधिक स्वीकार करके आश्रमाधिकरण एवं विधुराधिकरण में जो व्यवस्थित विकल्प किया है वह शैवागमों की ही दृष्टि है। आज हमें पुन: वैदिक धर्म के इस सार्वभौम रूप के प्रचार से विश्वभर में नव आलोक देना ही पड़ेगा। इस स्तोत्र में अत्यन्त संक्षेप से इसके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

इस परम्परा का सम्बन्ध विशेषत: श्री दक्षिणामूर्ति सम्प्रदाय से रहा है। गुरु परम्परा में स्वयं भाष्यकार श्री दक्षिणामूर्ति पीठ पर आरूढ रहे हैं एवं उन्हें मुखरदक्षिणामूर्ति ही माना जाता है। इस पीठ की प्रधानता समन्वय दृष्टि रही है। आगम व निगम दोनों के समन्वय से ही भाष्यकार सर्वज्ञ और जगद्गुरु

कहे जाते हैं। नव वैदिक धर्म के संस्थापक रूप से इस ग्रन्थ के मूल लेखक आचार्य शंकरभगवत्पाद का जीवन सारे संसार में सुपरिचित है। सुदूर केरल में जन्म लेकर समग्र भारत में केवल विचार बल से बौद्ध धर्म का समूल नाश करके उन्होंने पुन: वेदसिद्धांत की स्थापना ही नहीं वरन् सर्वदा इसके संरक्षणार्थ दशनाम संन्यास संघ की स्थापना भी की। भाष्य आदि ग्रन्थों से वेद का युक्तिसिद्ध वर्णन प्रस्तुत किया। केवल ३२ वर्ष की वय में कैलास गमन किया।

मानसोल्लास के लेखक ने उत्तर भारत के मिश्र कुल में जन्म लेकर साक्षात् शंकरभगवत्पाद से श्रीपरमहंसदीक्षा ली एवं सुरेश्वराचार्य नाम प्राप्त किया। बृहदारण्यक पर आपका वार्तिक वेदान्त शास्त्र में 'वार्तिकान्ता ब्रह्मविद्या' कह कर सम्मानित किया जाता है इनका मीमांसा और न्याय का अध्ययन अपूर्व था एवं युक्तिवाद में इन्होंने नई परम्परा चलाई। आप वार्तिककार कहे जाते हैं।

यह स्तोत्र तो श्रीदक्षिणामूर्ति को गुरुमूर्ति रूप से ही पूज्य बताता है। दोनों का अभेद ही इष्ट है। अत: श्रीदक्षिणामूर्ति वैदिक सम्प्रदाय में तो गुरू का अतिविशिष्ट स्थान है। गुरु के चरणों के सहारे के बिना परमेश्वर होते हुए भी नहीं के समान है क्योंकि जाने बिना व्यवहार में पदार्थ का अभाव-सा ही रहता है। गुरु चरणकमलों के आश्रय लेने पर द्वैतधी का त्रैकालिक अत्यन्ताभाव हो जाता है।

शिव नटराज है। अतएव शैव दर्शन सृष्टि को नट का खेल ही स्वीकार करता है। यहूदी, ईसाई और मुसल्मान मजहब आदम के प्रथम पाप की वसीयत के भार से मानव को सदा ही पतित और परवश रखने में ही गौरव अनुभव करते हैं। नव मनोविज्ञान इन धर्मों को हीनभावना और रुद्धमानस की उपज सिद्ध कर चुका है। हमारे वैदिक धर्म को न जानकर सर्व-धर्म-साम्यवादी धर्म-शब्दमात्र से हमें भी उसी कोटि का मान लेते हैं। हमने तो कभी भी मानव को ईश्वर से कम न समझा। इस अद्वैत मत को जब समझ लिया जायगा तो नटराज मूर्ति हमारे उपवेशगृह की चीज न

रहकर हृदय की अनुभूति बन जाएगी। धर्म बन्धक नहीं, मोचक के रूप में स्वीकार होगा।

अद्वैत का स्वत: प्राकाश्य का सिद्धान्त ही वस्तुत: धर्म को एक नवीन दिशा देता है, जीवस्वातन्त्र्य खिल उठता है। प्रत्येक जीव अपने में इस स्वतंत्रानुभूति को देखता है। इच्छा का स्वातंत्र्य निर्विवाद है। इच्छा को ज्ञान और क्रिया दोनों का आधार सिद्ध किया जा चुका है। अत: अद्वैतवाद ही प्रगति का सिद्धान्त है। भारत ने इस सिद्धान्त का परित्याग करके जब से इस्लाम से समन्वय के प्रयत्न में पन्थ चलाये या विकृत बौद्ध धर्म की वैष्णव शाखाओं का सहारा लिया तभी से हमारा पतन प्रारम्भ हुआ। आज नव भारत का निर्माण इस अद्वैतवाद की अपेक्षा करता है। यदि इसका दृष्टिकोण नव निर्माता समझ सके तो बृहत्तर और महत्तर भारत के संस्थापक बन सकेंगे। उच्छिष्ट या पराजित विचारधाराओं से तो राष्ट्र निर्माण नहीं होता।

उपदेश साहस्री और संक्षेपशारीरक के साथ जो वेदान्तबोधके लिये अनिवार्य ग्रंथ है वह है **नैष्कर्म्यसिद्धि**।

आचार्य शङ्कर के प्रधान शिष्यों में से एक श्री सुरेश्वराचार्य प्रकाण्ड विद्वान तो थे, परन्तु उनकी अद्वैतनिष्ठा के विषय में अन्य शिष्यों के मन में सन्देह तो बना ही रह गया। श्री सुरेश्वराचार्य जब अपने पूर्वाश्रम में मण्डन मिश्र के नाम से जाने जाते थे, तब वे मूर्धन्य मीमांसक के रूप में लब्धप्रतिष्ठ थे। पूर्वमीमांसा मत का खण्डन कर वेदान्त के अद्वैत-सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना करने के उद्देश्य से भगवान् वेदव्यास के द्वारा प्रेरित होकर भगवान् भाष्यकार ने जब मीमांसकों के अग्रणी श्री कुमारिल भट्ट से शास्त्रार्थ करना चाहा तब पाया कि कुमारिल तो प्रयाग में त्रिवेणी के तट पर तुषाग्नि में प्रविष्ट होकर देहत्याग कर रहे थे। कुमारिल भट्ट ने आचार्य शङ्कर से कहा कि यदि आप मेरे शिष्य मण्डन को परास्त कर सके तो वही मीमांसा-मत की पराजय मानी जायेगी। मण्डन मिश्र जब आचार्य के साथ शास्त्रार्थ में पराजित हुए तब उन्होंने सन्यासाश्रम का ग्रहण कर आचार्य का शिष्यत्व स्वीकार किया। इन सुरेश्वराचार्य से जब भगवान् भाष्यकार ने अपने बृहदारण्यक-भाष्य पर

वार्तिक लिखवाना चाहा तो बाकि शिष्य विचलित से हो उठे। जिस व्यक्ति ने सारा जीवन मीमांसानुकुल कर्मकाण्ड के आचारण में निष्ठापूर्वक बिताया हो, वह आचार्य शङ्कर का शिष्य होने मात्र से भाष्य पर वार्तिक लिखने के लिए सक्षम वेदान्ती कैसे हो सकता है?

लोगों के इस सन्देह का निवारण तो अत्यावश्यक था, अन्यथा उस समय के लोग ही नहीं, आने वाली पीढ़ियाँ भी सुरेश्वराचार्य के वार्तिक की ओर सन्देह भरी दृष्टि से देखती। कर्मकाण्ड का खण्डन करते हुए नैष्कर्म्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने की अपनी क्षमता और अपनी अद्वैतनिष्ठा को मानो सिद्ध करने के लिए श्री सुरेश्वराचार्य ने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' का प्रणयन किया। श्री सुरेश्वराचार्य के शब्दों को ही उद्धृत किया जाय तो उन्होंने इस ग्रंथ को अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करने के लिए नहीं लिखा अपितु गुरुपसत्ति के पश्चात् अर्जित किये ज्ञान को विद्वानों द्वारा की जाने वाली परीक्षा की कसौटी पर परखने के लिये इस ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ अद्वैत–सिद्धान्त के प्रतिपादन की शैली को नया आयाम देकर आज भी वेदान्त के अध्येताओं के द्वारा प्रामाणिक ग्रंथों की कोटि में समादृत है।

प्रतिक्षण अनुभूयमान व वर्धमान दुःख, अशान्ति, असन्तोष और अविवेक को शनैः क्षीण करने और अन्ततः समुच्छिन्न करने के कारुणिक प्रयोजन से अतिधन्य वेद में उपनिषदों की प्रवृत्ति है। औपनिषद बोध की उपलब्धि में गुरुश्रद्धा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दायित्व है। यद्यपि वस्तुतन्त्र होने से ज्ञानप्राप्ति के स्वरूप में श्रद्धा का विनियोग समझना शक्य नहीं तथापि उस प्राप्ति के साधनभूत मन को इस योग्य बनाने में कि ज्ञान हो सके व होने पर वह शंकादि से ग्रस्त न हो पाये, श्रद्धा ही प्रमुख उपाय है। आचार्यशुश्रूषामात्र साधना वाले आचार्य श्री आनन्द गिरि भगवान् भाष्यकार के वे शिष्य हुए जिन्होंने इस श्रद्धा की महत्ता को मूर्तिमान् रूप दिया। केवल गुरुकृपा से विद्या प्राप्त कर ज्ञानलाभ के राजमार्ग को और विस्तृत करने के लिए श्रुतियों का सार उद्धृत करते हुए एक प्रकरण रचा **'श्रुतिसारसमुद्धरणम्'**। क्योंकि इसमें ग्रन्थभाग तोटक छन्द में ही है इसलिए इसे 'तोटकम्' नाम से भी जाना जाता

है तथा इस छन्द का सिद्धहस्त प्रयोक्ता होने से ही संभवत: आचार्य का भी तोटकाचार्य उपनाम प्रसिद्ध है।

शरणागत शिष्य को गुरु सर्वप्रथम वैराग्य का उपदेश देते हैं जिसके होने पर ही पदार्थविवेक संभव है। प्रत्यगात्मा का वास्तविक अभिन्न स्वरूप होने से ही भेद औपाधिक सिद्ध होता है। आत्मा की प्रधान उपाधि बुद्धि है जो स्वयं दृश्य है अतएव उसका साक्षी निर्विकार है। आत्मा की क्रिया व भोग से संश्लिष्ट परिवर्तमान रूप से उपलब्धि बुद्धि के ही अहमाकार परिणाम से है। वस्तुत: कर्तृतादि आत्मनिष्ठ नहीं। अहमाकार अनुभव का विश्लेषण ही अध्यात्मसाधना का प्रमुख अंग है। इस परीक्षण को श्रुतिप्रदर्शित आयामों में निबद्ध रखने से ही अभीष्ट परिणाम प्राप्त हो सकते हैं, तर्कमात्र तो अप्रतिष्ठित होने से एकान्त निर्णायक संभव नहीं। उक्त अनुभव का परीक्षण कर जिस अहम् को हम अव्यभिचारी पाते हैं वही वेदोक्त परमात्मा है। आत्मा-परमात्मा के अत्यन्त अभेद का विरोध करने वाले समस्त तर्क व प्रमाण इस परीक्षित अहम् को दृष्टि में न रखने से ही प्रवृत्त होने के कारण वास्तविकता का विरोध करने में अक्षम हैं। अतएव उनके आधार पर श्रुति को अन्यपरक नहीं किया जा सकता। वात्सल्यवती श्रुति स्पष्ट ही 'मैं क्या हूँ?' इस शंका वाले को 'परमात्मा हो' उपदेश देती है। इस तत्त्वज्ञान से ही कल्पित दु:खादि संसार बाधित होता है जिसके बिना मोक्ष असंभव है। मन: सहित समस्त द्वैत के मिथ्यात्वनिश्चयपूर्वक आत्माद्वैतानुभव ही परमपुरुषार्थ है। इस लघुकाय ग्रन्थ में गेय छन्द में यह विषय रोचक ढंग से उपनिबद्ध है।

भारतीय संस्कृति साधना-प्रधान रही है। यहाँ के दार्शनिक धर्मनेता रहे हैं। ऐतिहासिक युग में विद्यारण्य स्वामी ऐसे ही दार्शनिक थे। विक्रम की त्रयोदश शताब्दि हिन्दू इतिहास में महत्वपूर्ण रही है। उत्तर भारत मे इस्लाम अपनी जड़ें मजबूत कर रहा था। हिन्दू अपनी संस्कृति के लिए अन्तिम संघर्षपरायण हो रहा था। दक्षिण भारत इस परिस्थिति से बचा रहेगा या नहीं यह संदेहास्पद था। विजयनगर साम्राज्य की स्थापना इसी परिस्थिति में की गयी। पाण्ड्य व चोल राज्य आपसी संघर्ष से जर्जर हो कर नवीन परिस्थिति

में कार्यकारी न हो पायेंगे यह अद्भुत दीर्घदर्शिता विद्यारण्य की थी। पर इस साम्राज्य की नींव किस दार्शनिक भित्ति पर रखी जावे? अद्वैत ही वह भित्ति थी जो समग्र हिन्दू को एकता का सन्देश दे सकती थी। पर यदि राज्य प्रणाली एवं स्वयं उसका प्रधान राजा संदेश को न समझे तो आर्दशहीनता की ओर ही प्रगति करेगा। अत: विद्यारण्य स्वामी ने सरल सरस ग्रंथों के निर्माण द्वारा इस कमी को पूरा किया। इनमें से पंचदशी एक प्रसिद्ध प्रक्रिया ग्रन्थ है। स्वयं लेखक ने इसे हरिहर राजा के लिए लिखा है इस प्रकार अन्त में कहा है। बुक्क व हरिहर ही वे दोनों भाई थे जिनके द्वारा आन्ध्र व कर्नाटक में विजय नगर साम्राज्य स्थापित किया गया था।

पंचदशी के पन्द्रह प्रकरण तीन खण्डों मे विभक्त हैं। प्रथम खण्ड में विवेक प्रकरण हैं। द्वितीय खण्ड में दीप प्रकरण हैं। तृतीय खण्ड में आनन्द प्रकरण हैं।

दीप प्रकरणों में ज्ञान रूपी दीप का प्रकाश फैलाया गया है। यथा दीप अपने आप को प्रकाशित करते हुए ग्रन्थों को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान भी स्वपर-प्रकाशक है। यथा देह में धड़ मध्य में है और सभी देह खण्डों मे प्रधान है यत: सर्वत्र शक्तिप्रद है, तथैव दीपखण्ड मध्य में है व विस्तार की दृष्टि में सर्वाधिक है तथा अन्य दोनों खण्डों को पुष्ट करता है। इनमें भी चित्र प्रकरण वस्तुत: अद्भुत है। इससे चैतन्य की विवधता का वर्णन करते हुए उसको चार प्रकार का बताया गया है जो मूलकार की मूल कल्पना है। अद्वैत वस्तुत: एक चैतन्य को ही स्वीकार करता है। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'आत्मैवेदमग्रे' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' आदि वेद वाक्य एवं 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित:' 'ईश्वरस्सर्वभूतानां हृद्देशेर्जुन' आदि स्मृतियाँ इसी एकता का प्रतिपादन करती हैं। परन्तु अज्ञान से हमें अपने में अल्पज्ञ परतंत्र जीव भाव की प्रतीति होती है। वेद स्पष्टत: चैतन्य को एक मात्र जगत्कारण बताते हुए उसे सर्वज्ञ स्वतंत्र ईश्वर भाव का बताता है। अत: अज्ञान से उसी प्रकार अखण्ड चैतन्य में जीव ईश्वर द्विविध भाव कल्पित होने से चैतन्य दो प्रकार का हुआ। दोनों भाव कल्पित हैं अत:

अकल्पित भाव तृतीय हुआ। इस प्रकार के व्यवस्था वाक्यों के अनुरोध से तीन चैतन्य स्वीकार करने वाले भी आचार्य हैं। आचार्य विद्यारण्य जीव, गाक्षी के ईश्वर, कूटस्थ इस प्रकार चतुर्विध कल्पना से उसी अखण्ड चैतन्य का प्रतिपादन रुचिकर रूप में करके चकित कर देते हैं।

इसी प्रकार **ध्यानदीप** प्रकरण में निर्गुण ध्यान के विषय में ज्ञानोपकारिता व ब्रह्मलोक-साधनता का विस्तृत और यौक्तिक प्रतिपादन भी स्वामी विद्यारण्य की अलौकिक कल्पना की प्रतिभा का दिग्दर्शन कराती है। वाचस्पति मिश्र एवं स्वमी अमलानंद सरस्वती ने ध्यानजन्य अपरोक्षता ब्रह्मज्ञान मे स्वीकारी है। ब्रह्म की अपरोक्षता ज्ञेय के अनुरोध से ही सिद्ध है अत: ब्रह्मज्ञान की अपरोक्षता ब्रह्मकी अपरोक्षता से सिद्ध होने से ध्यान जन्यता अकिंचित्कर है। ऐसी परिस्थिति में विद्यारण्य महामुनि का कथन है कि अपरोक्ष ज्ञेय में भी परोक्ष भ्रम संभव है। भ्रम काल मे अपरोक्षता अप्रतीत होगी एवं शास्त्र के बल से उसमें अपरोक्षता का ध्यान नहीं किया जा सकता है यद्यपि ज्ञान परोक्षता का ही बना रहेगा। प्रस्तर में विष्णुबुद्धि शास्त्रजन्य है। ध्यान विष्णु का वहाँ संभव है, ज्ञान नहीं। इसी प्रकार अहं या जीव में ब्रह्मबुद्धि शास्त्रजन्य है, अहं मे ब्रह्म का ध्यान संभव है। ज्ञान के लिए तो वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ आदि को अन्वय-व्यतिरेक से समझना आवश्यक है जो सर्वसाधरण को कठिन लग सकता है। पर शास्त्र में श्रद्धामात्र होने से अहं ब्रह्म का ध्यान तो संभव ही है। ब्रह्म का प्रकार व ध्यान का प्रकार भी शास्त्र से पता लगाकर किया जा सकता है। योगवासिष्ठ सूतसंहिता आदि में इसका विस्तृत विचार है। ध्यान के फलस्वरूप ब्रह्मलोक की प्राप्ति या मृत्युक्षण में अपरोक्ष साक्षात्कार की प्राप्ति होकर जीव नि:श्रेयस् 'प्राप्त' करेगा। इस प्रकार से ये दोनों प्रकरण जीव के कल्याणार्थ विशेषत: सिद्ध होते हैं।

अन्तिम पंचक आनन्दविचार का प्रकरण कहा गया है। वस्तु तस्तु आनंद ही अर्हा रूप होने से वेदान्त का विशेष प्रतिपाद्य है। विश्व दर्शनों में जितना विस्तृत विचार वेदान्तानुयायियों ने आनंद का किया है, उसका शतांश भी किसी ने नहीं किया है।

आनन्द को **योगानंद, आत्मानंद, अद्वैतानंद, विद्यानंद व विषयानंद** इस प्रकार बाँटा गया है। आनन्द वस्तुत: अपरिच्छिन्नता में प्रकट होता है। दो परिच्छिन्न पदार्थों का या प्राणियों का आपसी तादात्म्य अपरिच्छिन्न भाव के द्वारा ही आनंद को प्रकट करता है। वास्तविक अपरिच्छिन्नत अन्त:करण की उपाधि मे लीन होकर सुषप्ति काल में जीव की शिवभावाप्ति से प्रक्टय है एवं व्यवहारिन्क भूमि में यही सर्वोपरि आनंद है। पर यहाँ भी उपाधि कारण रूप से विद्यमान होने से कालापेक्षा आदि व अंत की परिच्छिन्नता तो बाकी रह ही जाती है, अत: ज्ञान से इस कारण के बोध द्वारा सर्वथा नष्ट होने पर जो स्वाभाविक आत्मा की अपरिच्छिन्नता प्रकट होती है वही पारमार्थिक आनंद है। यस्मात् इससे कभी पुन: प्रभवाप्यय नहीं होता। यही इन अध्यायों का विज्ञाप्य है।

पन्द्रहवें प्रकरण में शब्दादि विषयों को ग्रहण करते हुए अन्त:करण की वृत्तियाँ कितनी होती हैं इसकी चर्चा है। मूढ तथा घोर वृत्तियों से मनुष्य अन्धकार की ओर जाता है तथा शान्त वृति के माध्यम से वैराग्यादि को प्राप्ति करता है। मुमुक्षु वैराग्यादि को प्राप्त कर वृत्तिरहित निष्कल ब्रह्मका ध्यान करता है। यहाँ ध्यान का अर्थ स्वरूप-निश्चयात्मिका बुद्धिवृत्ति ही है। त्रिपुटी-रहित कैवल्यभाव को प्राप्त कर स्वस्वरूप में लीन रहना ही मोक्ष कहा गया है।

नाम रूप चित्रों की भाँति या लहरों की भाँति सदाशिव पर अध्यस्त हैं। अध्यस्तता की विज्ञप्ति ही नरको अधिष्ठान ज्ञान की ओर प्रवृत्त कर सकती है। अध्यस्तता के अभाव में केवल अज्ञान अधिष्ठान का ज्ञापक नहीं बन सकता। विषयसुख आनंदाधिष्ठान का परिचायक है। परंतु प्रारम्भ में स्थूल विषयों से परमात्मसंबंधी विषयों की ओर प्रवृत्ति का निमत्त विद्यानंद बनता है जो अद्वैतानंद का साधन है व स्वयं योगानंद व आत्मानंद के माध्यम से प्रकट होता है। विद्यानंद की प्रभूतावस्था में विषयानंद को ब्रह्मानंद का साधन बनाता है अथवा मंदमतियों को अद्वैतानंद की ओर प्रवृत्ति कराने का साधन विषयानंद है। इस प्रकार सभी प्रकरण आपस मे संश्लिष्ट हैं एवं एक-

दूसरे के उपकारक भी हैं और प्रत्येक अपने में सम्पूर्ण आनंद प्रकट करने में समर्थ भी है।

भारतीय मनीषा की कसौटी है तत्त्वचिन्तन। परमार्थ सत्य के साक्षात्कार के जितना निकट जो बुद्धि पहुँचती है उतनी उसकी प्रशस्तता है। साधन व साध्य दोनों धरातलों पर तुल्य प्रखरता से विचार करने वाले वैदिक चिन्तकों में अप्पय दीक्षित प्रमुख हैं। सोलहवीं शताब्दी ईस्वी मे माध्व व रामानुज मतानुयायियों ने सनातन परम्पराओं की अवहेलना कर निगम-आगम की मीमांसापद्धति को तिलांजलि दे ऐसी धारा का प्रणयन किया जिससे समाज में ईश्वर-दृष्टि लुप्त हो राग-द्वेषमय देवताओं को ही चरमतत्त्व मानने की और फलतः ईश्वरानुयायी रूप से पारस्परिक सामंजस्य के अभाव की स्थिति आने लगी। यवन आतंक के रहते यह अवस्था धर्म समाज व राष्ट्र के लिए एक बिभीषिका हो गयी। इसी समय अप्पय दीक्षित ने—जो परम्परा मे अंशावतार माने गये हैं— हिन्दू चिन्तन की अप्रतिम समन्वय-दृष्टि अपना कर शास्त्र की ठोस नीव पर उपाय-उपेय दर्शनों का किला खड़ा किया जिसने हर स्तर पर उस विकृत विचारधारा के आक्रमण का मुकाबला कर सनातन धर्म को उसी सबसे अविरुद्ध प्रकार से स्थापित किया जिससे पूर्व में आचार्य श्रीशंकर ने किया था।

शैव वैष्णव व शाक्त—ये तीन सम्प्रदाय अध्यात्म मार्ग में प्रधान तथा परस्पर विलक्षण हैं। वैदिक और वैयासिक सिद्धान्तों के विस्मरण से एवं अन्यान्य साहित्य का अनुसरण करने वाली विकलांग शैली से शिव, विष्णु व शक्ति—इस त्रिरत्न का लावण्य बहुत मलावृत किया गया। भेद वह बीभत्स रोग है जो अभिन्न को विशीर्ण कर घृणित बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ता पर सौभग्य से वास्तविक को अवास्तविक कभी सचमुच बिगाड़ नहीं पाता अतः सही समझ तुरन्त रोग मिटाने वाली अमोघ दवा निश्चित है। श्री दीक्षित ने उसी का प्रयोग कर दार्शनिक अस्वास्थ्य की स्थायी चिकित्सा की। **'रत्नत्रयपरीक्षा'** अष्टश्लोकी अतिलघु प्रकरण है जिसकी विवृति मे स्वयं रचयिता ने अपेक्षित विस्तार प्रस्तुत किया है।

एक तत्त्व ही मायावशात् पार्थक्य वाला होता है। श्रुतियों में विभिन्न शब्दों द्वारा विभक्त परमस्वरूप वर्णित है। सृष्टि आदि पंचकृत्यों का निर्वाह परतत्त्व ही मायिक भावों से करता है–शिव, अम्बिका और नारायण यही रत्नत्रय है जिनमें शिव धर्मी तथा अन्य दोनों धर्म है। प्रपंचविस्तार नारायण का ही विकार है और शिवप्रापित्सु के लिए हरिसमाश्रयण अनिवार्य है। गौरी की शिव के साथ उपासना का नियम है। अन्य भावनाएँ क्रमशः किन्तु शिवोपासना साक्षात् मोक्षहेतु है, क्योंकि अहंग्रहोपासनारूप होने से यह चरम साक्षात्कार के प्रति द्वार पड़ती है। कैवल्य प्राप्त न हो तो भी उपासना से लभ्य शिवलोक की सर्वोत्तमता प्रमाणसिद्ध है। इस तरह संक्षेप में हिन्दू धर्म के त्रिरत्न के स्वरूप का और उसकी उपासना का शास्त्रीय विश्लेषण इस ग्रन्थतल्लज में उपलब्ध है। इसकी समझ व तदनुसार साधना अभ्युदय तथा निःश्रेयस का ऋजु मार्ग है।

सतत सुख के लिए आवश्यक है निरन्तर परमात्मा का साक्षात् रहना, क्योंकि उन्हें असाक्षात् समझने से ही सारे दुःखों का आरम्भ है। कुछ भी समझना हमारे लिए अपने मन से ही संभव है, उसके बिना किसी चीज़ की समझ हममें आये यह संभव नहीं। सही जानकारी के लिए उपायों का सहीपन जरूरी है अतः परमात्मा को जानने के लिए उचित उपायों को एकत्र करना आवश्यक है। ज्ञान देने वाला निर्दुष्ट साधन तो एकमात्र वेद ही है जिसमें भगवान् ने अपनी वास्तविकता को व्यक्त कर दिया है । इसलिएं जहाँ ज्ञान होना है, उस अपने मन को ही तैयार करना मुख्य कार्य है। आचार्य शंकर ने कल्याण का उपाय बताते हुए वेद पढ़ना उसमें बताये कर्म करना व उन कर्मों से ईश्वर की सेवा करना है ये पहले तीन काम कहे हैं। सभी अधिकारी इस ढंग से चलें तो उनके मन इस योग्य हो जायेंगे कि वेद का परम तात्पर्य परमात्मा उन्हें हमेशा साक्षात् हो जायेगा।

शिवपूजन सभी का नित्यकर्तव्य है। जिस जीवन मे शिव की अर्चना नहीं की गई उसे शास्त्र में धिक्कारा गया है। सभी पूजाओं में महादेव की पूजा सरलतम है। विस्तार असंभव हो तो पंचाक्षर-मंत्र बोल कर जल चढा

देना भी पर्याप्त हो सकता है। यथाविधि यदि पूजा की जाये तब उसकी अमोघफलता का कहना ही क्या! शिवाभिषेक में वैदिक **रुद्राध्याय** का विनियोग है। इसमें विस्तृत वर्णन है परमेश्वर के व्यापक स्वरूप का तथा सभी रूपों को पुन: पुन: प्रणाम किया गया है। इसे रुद्रोपनिषद् भी कह देते हैं क्योंकि इसे सही तरह समझें तो जीव-ब्रह्म की एकता स्पष्ट हो जाती है। अन्य अनेक वैदिक मंत्र इसी रुद्राध्याय के अंगरूप में इसके साथ ही पढ़े जाते हैं जिनमें विविध प्रार्थनायें हैं व तत्त्व का उपदेश है। यह सारा संग्रह रुद्राष्टाध्यायी नाम से प्रसिद्ध है। शान्ति आदि के अन्य मंत्र भी साथ ही पढ़े जाते हैं।

शब्द में सामर्थ्य है यह सत्य है अत: विहित शब्दों से भगवान् की प्रार्थना-पूजा आदि हो यही ठीक है। साथ ही जरूरी है कि भगवान् से हम क्या निवेदन कर रहे हैं यह हम समझें। इसमें हमारी भावना और दृढ होती है तथा परमार्थ का विचार करना संभव होता है। अर्थ का चिन्तन करते हुए प्रतिदिन रुद्रपाठ व शिवपूजन से निश्चित कल्याण की प्राप्ति सब लोग करें।

वैष्णवों में जो स्थान सुन्दरकाण्ड का है, शाक्तों में वही स्थान **सप्तशती** या चण्डी का है। किसी भी दु:ख या आपत्ति की निवृत्ति के लिए इसके पाठ को स्वयं या किसी अन्य समूह से कराया जाता है। श्रद्धानुसार फल भी प्रत्यक्षसिद्ध है। परन्तु पाठ के साथ अर्थानुसन्धान हो सके इसमें अनेक लौकिक व पारलौकिक रहस्यों का भी पता चलता है। शक्ति या देवी, मायाविशिष्ट चैतन्य का ही नाम है। अत: उसकी सर्वरूपता का वर्णन भी इसमें स्पष्टत: पाँचवें अध्याय में है। शरणागति को प्रथम अध्याय में ही 'वरदा भवति मुक्तये' कहकर प्रतिपादित किया है एवं प्रतिचरित्र इसका विस्तार है। शक्ति का अपने को अद्वितीय रूप से मैं के साथ अभिन्न बताकर साधक को ज्ञान का स्वरूप भी निर्देश करना महत्त्वपूर्ण है। मार्कण्डेय पुराण का यह प्रसंग आसक्त गृहस्थाश्रमियों का बड़ा ही सटीक वर्णन करता है जहाँ वर से पुत्रों द्वारा निष्कासित होकर भी समाधि व्यापारी उन्हीं का चिन्तन करता हुआ दिखाया गया है। शाब्दज्ञानियोंकी भी सुमेधा महर्षि ने अच्छी

खबर ली है। लक्ष्मी काली व वाणी को केन्द्र बनाकर तीन चरित्रों का विस्तार भी इसकी अपनी विशेषता है। एकदेववाद में अनेकदेववाद का समन्वय वैदिक परम्परा में ही सम्भव है। बंगाल शाक्त परम्परा का अनुयायी रहा है। यहाँ के कई विद्वानों ने विस्तृत व्याख्याओं के द्वारा समग्र कुण्डलिनी योग का इसमें दर्शन कराया है, जो भावुक योगाभ्यासियों के लिए महत्त्वपूर्ण है। इसके अन्त में जो भविष्य के संकेत हैं वे भी काफी महत्त्वपूर्ण हैं। अष्टम मन्वन्तर को प्रवृत्त करने वाले सुरथ की यह साधना है। सुरथ ने स्वयं अपने शरीर के अंगों की आहुति से यह साधना की थी। वर्तमान के बाद आने वाली यह स्थिति है। अत: हम अपने सर्वस्व का बलिदान करने को तैयार रहें तभी भविष्य का सामना कर सकेंगे यह संदेश भी है ही। इसमें सुअरों को मारने वाली जातिविशेष का वर्णन है। यह वर्तमान में भारत के पश्चिम में स्थित महादेशों में रहती है। प्रथम अध्याय में उन दूर की सीमाओं से भाग कर राजधानी मे आने का वर्णन प्राचीन ऐतिहासिकों के लिए महत्त्व का है।

आत्मा को समझने पर प्रकृति से ही मन शान्त हो जाता है क्योंकि अशान्ति सदा विषयों की सत्यता व शिव की अप्राप्ति से ही होती है। मन के शान्त होने पर शरीर व इन्द्रियाँ तो नियन्त्रित स्वभाव से ही हो जाते हैं। अत: इसी शान्ति को प्राप्त करने के लिए आत्मज्ञान के द्वारा अपने शिव स्वरूप को जान कर उसी में सदा स्थिर हो कर रहना मानव मात्र के लिए समझदारी का प्रधान काम है।



